राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली :

राधाकृष्णन का विश्वदर्शन

शांति जोशी

राजकमल प्रकाशन

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानाम्प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जीवन-क्रम

जन्म ५ सितम्बर १८८८ ई० में तिरुत्तनि (मद्रास प्रदेश दक्षिण भारत)।

शिक्षा लूथर मिशन हाई स्कूल तिरुपति (१८९६ १९) उर्वी कॉलेज वैल्लोर (१९ १९ ४) क्रिश्चियन कॉलेज मद्रास (१९ ४ १९ ८)।

पद असिस्टेंट प्रोफेसर ऑफ फ़िलोसफ़ी प्रेसिडेन्सी कॉलेज मद्रास (१९११ १६) प्रोफेसर ऑफ फ़िलोसफ़ी प्रेसिडेन्सी कॉलेज मद्रास (१९१६ १७) युनिवर्सिटी प्रोफेसर ऑफ फ़िलोसफ़ी मैसूर (१९१८-२१) जॉर्ज पंचम प्रोफेसर ऑफ फ़िलोसफ़ी कलकत्ता युनिवर्सिटी (१९२१ ३१) अप्टन लेक्चरर, मैन्चेस्टर कॉलेज ऑक्सफ़ोर्ड (१९२६) हस्केल लेक्चरर इन कम्पैरेटिव रिलीजन युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो (१९२६) जनरल प्रेसीडेन्ट, थर्ड सेशन ऑफ दि इण्डियन फ़िलोसोफ़िकल कांग्रेस बम्बई (१९२७) चेयरमैन एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी इण्डियन फ़िलोसोफ़िकल कांग्रेस (१९२५ ३७) हिबर्ट लेक्चरर (१९२९) अप्टन लेक्चरर, मैन्चेस्टर कॉलेज ऑक्सफ़ोर्ड (१९२९ ३) प्रेसीडेन्ट पोस्ट ग्रेजुएट कौंसिल इन आर्ट्स कलकत्ता युनिवर्सिटी (१९२७-३१) प्रोफेसर ऑफ कम्पैरेटिव रिलीजन मैन्चेस्टर कालेज ऑक्सफ़ोर्ड (१९२९) प्रेसीडेन्ट, ऑल एशिया एजुकेशन कॉन्फ़रेन्स बनारस (१९३) वाइस चान्सलर, आंध्र युनिवर्सिटी वाल्टेयर (१९३१ ३६) जॉर्ज पंचम प्रोफेसर ऑफ फ़िलोसफ़ी कलकत्ता युनिवर्सिटी (१९३७-४१)

मेम्बर, इन्टरनेशनल कमिटी ऑफ़ इन्टलेक्चुअल कोऑपरेशन लीग ऑफ नेशन्स जिनेवा (१९३१ ३९) मिर्मसिंग मोप लेक्चरर इन कम्पेरेटिव रिलीजन कलकत्ता युनिवर्सिटी (१९३७) वाइस चान्सलर, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी (१९३९ ४८) सर सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफ़ेसर ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलिजेशन बनारस युनिवर्सिटी (१९४१) कमला लेक्चरर कलकत्ता युनिवर्सिटी (१९४२) यूनेस्को में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता (१९४६ ५) सदस्य एक्ज़ीक्यूटिव बोर्ड यूनेस्को (१९४६ ५१) विधान परिषद् के सदस्य (१९४७) प्रेसीडेन्ट एक्ज़ीक्यूटिव बोर्ड, यूनेस्को पेरिस (१९४९) चेयरमेन युनिवर्सिटीज़ कमीशन गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया (१९४८ ४९) इण्डियाज़ एम्बेसेडर टु यू एस एस आर (१९४९ ५) प्रेसीडेन्ट इण्डियन पी ई एन (१९४९) प्रेसीडेन्ट सिल्वर जुबली सेशन इंडियन फ़िलासौफ़िकल कांग्रेस कलकत्ता (१९५) भारत के उप-राष्ट्रपति (१९५ ६२) राष्ट्रपति (१९६२—)।

भारतीय एवं विदेशी विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त उपाधियाँ एवं सम्मान

भारतीय विश्वविद्यालय डी लिट्०—आगरा इलाहाबाद आन्ध्र अन्नमलई लखनऊ पटना सागर तिरुपति विश्वभारती डी एल् —कलकत्ता डी एस्-सी०—रुड़की एल्-एल् डी —बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय जबलपुर मद्रास मैसूर, उस्मानिया।

विदेश के विश्वविद्यालय LL. D.—Andes University (Bagota) Brussels, Budapest Buenos Aires, Ceylon, Columbia (U S A.) Hawaii University Howard (Washington) London Mainz (Germany) McGill (Canada) Mexico Oberlin (U S A.) Prague Rome Sofia University Wroslaw D Litt.—Cambridge D C L.—Oxford

अन्य उपाधियाँ एवं सम्मान Vidyachakravarti—Kelaniya Parivina, Fellow of the British Academy· Pour Le Merite—Germany· Honorary Fellow of the Royal Asiatic Society Bengal, Honorary Fellow of the Academy of Sciences of the Republic of Rumania, Honorary Fellow of the Academy of Sciences of the Republic of Mongolia Honorary Professor—University of Moscow· Professor Emeritus—Calcutta University· Professor Emeritus—Oxford University· Honorary Fellow of All Souls College—Oxford Sarvagama Sarvabhauma—Calcutta Sanskrit College· Goethe Plaque· Master of Wisdom (Mongolia) German Booksellers Peace Prize 1961 Wlodzimierz Pietrzak Prize by Warsaw University for Philosophical Science· Bharatabhusamani—Institute of Indology Dwarika Honorary Fellow of the British Academy 1962

यह सम्मान विश्व में केवल तीन और महापुरुषों को मिला है : अर्नॉल्ड टोयन विस्टन चर्चिल और स्वीडन के बादशाह गुस्ताव।

परिचय

भौतिकता के इस युग में दर्शन का पुनर्जागरण स्वाभाविक और अनिवार्य हो गया है। उसका प्रकाश जीवन के सभी क्षेत्रों में डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। राधाकृष्णन की दृष्टि जहाँ चेतना के उच्चतम शिखरों पर विचरण करती रही है, वहाँ उन्होंने मानव जीवन विश्व जीवन एवं युग जीवन की विभिन्न महत्त्वपूर्ण समस्याओं का भी लोकोपयोगी समाधान प्रस्तुत कर तथा विश्व मानस पूर्वी-पश्चिमी संस्कृतियों एवं विचारधाराओं में महत् समन्वय स्थापित कर मानव जीवन को नवीन गति तथा संयम मय सत्य प्रदान करने की चेष्टा की है। दार्शनिक का कर्तव्य सत्य के सिद्धान्तों का अनुसन्धान करना तो है ही—उन सिद्धान्तों के वैविध्य-भरे विरोधी पक्षों को आत्म-कल्याण तथा लोकहित के लिए समन्वित सामञ्जस्य में बाँधकर पथ प्रदर्शन करना भी है। इस दृष्टि से राधाकृष्णन का विश्वदर्शन हमारे युग की माँग ही को पूरा नहीं करता भारतीय दृष्टि का समुचित मूल्यांकन कर पूर्व-पश्चिम के मिलन की सम्भावना को पूर्णतः चरितार्थ करता है।

१८/७-बी स्टैनली रोड
इलाहाबाद
२०-४-६२

—शांति जोशी

सूची

अध्याय १

परिवेश, अनुशीलन और विश्वास

कोई भी छोटी-से छोटी या महान्-से महान् घटना निरुद्देश्य नहीं होती—इस आस्था को अपनाने वाले डॉ॰ राधाकृष्णन का जीवन उद्देश्य की एकसूत्रता में बँधा हुआ है। उनके जीवन की घटनाएँ एवं गतिविधियाँ भले ही एक-दूसरे से स्वतन्त्र प्रतीत हों पर अपनी समग्रता में—सम्पूर्ण जीवन के संदर्भ में—वे एक महत् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। राधाकृष्णन का उद्भव काल सदियों की दासता से निष्प्राण भारत का सर्वांगीण-आध्यात्मिक धार्मिक राजनीतिक सांस्कृतिक जागरण का युग था। भारतीय अध्यात्म दर्शन और धर्म पर सदियों की निष्क्रियता निराशावाद जगत् के मिथ्यात्व पलायन उदासीनता अन्धविश्वास और जादू-टोने की गहरी काई जम चुकी थी। इस काई को दूर करना ही राधाकृष्णन का धर्म एवं उनके जीवन का दिव्य प्रयोजन रहा है। उनका धर्म जीवन और जगत् की जीवन समस्याओं का धर्म है न कि तार्किक ज्ञानमीमांसा और विश्व उद्भव तथा देश-काल और कारण-कार्य सम्बन्धी समस्याओं का। राधाकृष्णन के चिन्तन और अनुभव का विषय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उथल-पुथल जीवन की वर्तमान स्थिति तथा पतनोन्मुख मानवता है। सर्वत्र विस्फोट और विनाश की चिनगारियाँ नृत्य कर रही हैं। साथ ही सोई हुई विश्व-चेतना और अन्तर्राष्ट्रीय भावना करवट ले रही है। विनाशशील प्रवृत्तियों के दमन और विश्वचेतना के सम्यक् विकास तथा संवर्धन का दायित्व डॉ॰ राधाकृष्णन के अनुसार मनुष्य पर ही

है। दुर्दमनीय शक्तिलोलुपता विश्व-चेतना को अपना ग्रास न बना दे मात्र संसार को इसका भय है। मनुष्य को युद्ध होकर दानवी शक्तियों से जूझना है। कर्तव्य कठिन है किन्तु ध्येय दिव्य है। शक्ति-उन्माद ने विश्व को वैमनस्य और विस्फोट के गहन बादलों से आच्छादित कर दिया है तथा बहुवादी भोगवादी अतिभौतिकवादी दृष्टिकोण द्वारा विषमता असहिष्णुता तथा ध्वंसता के कैंसर को जन्म दे दिया है। इसका उपचार करने के लिए राधाकृष्णन प्रयत्नरत हैं। वे आध्यात्मिक अग्नि शलाका से मानवता का आह्वान करते हुए कहते हैं कि मनुष्य मनुष्य नहीं रह गया है उसकी गति अधोमुखी हो गई है उसका लक्ष्य ध्वंसात्मक हो गया है। यदि मनुष्य अपने को समझने का प्रयास नहीं करेगा तो अवश्य ही उसका विनाश हो जाएगा। राधाकृष्णन की चेतना विश्व-चेतना है। उनकी समस्या मानवता की समस्या है। यही कारण है कि उनके कथन एवं दर्शन को आज विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषी मान्यता प्रदान करने के लिए तत्पर हैं। उनका दर्शन कालगत जातिगत देशगत तथा भाषाजनित सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्व-संस्कृति का द्योतक बन गया है। वे विश्व चेतना के प्रतिनिधि हैं।

राधाकृष्णन का जीवन की वास्तविकता में महान विश्वास है। जीवन की ओर से विमुख होना अमानवीय तथा घातक है। यह आत्म विनाश है। मनुष्य को जीना है और ठीक से जीना है। उसके जीवन का अर्थ और उद्देश्य है। उसे इसे प्राप्त करना ही होगा। उसके जीवन की घटनाओं के अतिरिक्त स्वरूप का ज्ञान उनकी प्रयोजनीयता पर प्रकाश डालता है। अप्रत्याशित एवं प्राकृतिक घटनाओं की भांति वे अनिवार्य कारण मात्र से संचालित नहीं हैं और न वे अकस्मात् घटित होती हैं। भाग्य चरित्र और आकस्मिकता से बंधा मानव-जीव सृष्टिकर्ता की एक अद्भुत रचना है जो अविभाजित रूप में अनेक असंबद्ध तत्वों द्वारा संचालित एवं निर्देश्य है। किन्तु मूलतः वे तत्व मूल बद्ध होकर एक ही चेतन उद्देश्य का पूर्ति करते हैं। इस उद्देश्य का समझना विश्व की

आध्यात्मिकता को समझना है। विश्व की आध्यात्मिकता परिलक्षित करती है कि दर्शनशास्त्र को व्यापक जीवन का अध्ययन कर उस आधार सत्य को समझना चाहिए जो मानव-मन मानव-कर्म मानव-जीवन और मानव चेतना को सुनिर्देशित कर सके उसके मार्ग के बीचनगामी रोड़े हटाकर उसे प्रगति के सोपान पर चढ़ा सके। वर्तमान की बोधशून्यता ने मानव-चेतना को अभिशापग्रस्त कर दिया है वह आज जर्जर और मरणोन्मुख है। डॉ॰ राधाकृष्णन का कथन है कि इस आपत्तिकाल में विशिष्ट समस्याओं की सूक्ष्म व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, और न सारतत्त्व और सत्ता भावबोध और दृष्टिकोण एवं तत्त्वचयन की असारता और प्रणाली तथा विज्ञान की उपयोगिता आदि की गहनता में पैठने की आवश्यकता है। यह आगामी पीढ़ी का लक्ष्य बनेगा। इस पीढ़ी को पहले असुलभ अत्यन्त कठिनाइयों से जूझना है। वर्तमान की आधि-व्याधि का उपचार करने हेतु राधाकृष्णन दर्शन के व्यावहारिक दायित्व को प्रस्तुत करते हैं—दर्शन अपने व्यापक अर्थ में विश्व का वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जो वैज्ञानिक निष्कर्षों और मानवता की उच्चाकांक्षाओं पर विस्तृत रूप से आधारित है।

मद्रास के छोटे-से नगर, तिरुत्तनि में जिसकी गणना दक्षिण भारत के तीर्थस्थलों में है राधाकृष्णन का जन्म ५ सितम्बर, १८८८ में एक साधारण मध्यवित्त ब्राह्मण परिवार में हुआ। आप अपने माता-पिता की दूसरी सन्तान हैं। मद्रास के चित्तूर जिले के उत्तर-पश्चिम में लगभग चालीस मील की दूरी पर तिरुत्तनि एक छोटा-सा गाँव है। आपके माता-पिता धर्मनिष्ठ थे परम्परागत पूजा-पाठ में उनकी आस्था थी। उन्हें हिन्दू धर्म पर विश्वास और गर्व था। किन्तु जिन संस्थाओं में उन्हें अपने पुत्र को शिक्षा देनी पड़ी वे मिशनरी संस्थाएँ थीं—ईसाई धर्म प्रचारक स्कूल और कालेज थे। जन्म से लेकर सन् १९०० तक वे तिरुत्तनि और तिरुपति इन दो स्थानों में ही रहे। इन्हीं स्थानों के वातावरण ने उनके अन्तर्लीन धार्मिक संस्कार का पोषण किया। वास्तव

में १९०८ तक घर और बाहर सर्वत्र उन्हें वह वातावरण मिला जिसका कण-कण आस्था विश्वास और धर्म से ओत प्रोत था। ऐसे वातावरण ने सहज ही उन्हें उस अदृश्य किन्तु सर्वव्यापी चेतनशक्ति का आभास दे दिया जो विज्ञान तर्क और इतिहास द्वारा बोधगम्य न होने पर भी सहज और स्वतःसिद्ध है तथा जो आत्मानुभूति का विषय है। इस अदृश्य किन्तु अन्तःस्थित और सार्वभौम सत्ता पर उनका विश्वास दिनोंदिन गहन होता गया। कैसी भी विषम स्थिति इसे डिगा न सकी। इसका परिणाम उनके लिए शुभ हुआ। इस आस्था ने उन्हें सत्य को समझने और ग्रहण करने की तथा जीवन के कटु अनुभवों और विरोधी परिस्थितियों को बिना मानसिक तिक्तता के झेलने की तथा जनमंगल हेतु सत्य के स्वरूप की निर्भयतापूर्वक व्याख्या करने की सशक्त प्रेरणा प्रदान की। इसने उनके स्वभाव को विनम्र शालीन और सहिष्णु बनाया। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनके धार्मिक बोध ने उन्हें कभी भी किसी के बारे में कठोर या अश्लील शब्द का प्रयोग नहीं करने दिया। उनकी प्रकृति भी मौन मधुर भाषी और संकोचशील है।

मातृभूमि के परिवेश ने अगोचर सत्य को एक जीवंत सत्य के रूप में प्रकट करने के साथ ही हिन्दू और ईसाई धर्मों के पारस्परिक बाह्य विरोधों को दिखाकर उनकी तर्क-बुद्धि और दार्शनिक जिज्ञासा को जाग्रत् कर दिया। इस जिज्ञासा को दैवी अनुकम्पाजन्य परिस्थितियों ने परिपक्वता प्रदान की। हिन्दू धर्म के परिवेश में लालन-पालन होने के कारण राधा कृष्णन की ईश्वर एवं धर्म पर अटूट आस्था हो गई थी। उन्हें विश्वास हो गया कि धर्म से भिन्न किसी सत्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। दर्शन जो कि सत्य का अन्वेषण करता है उसे तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा तक सीमित करना भूल है। दार्शनिक समस्याएँ धार्मिक समस्याएँ हैं। वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं—दोनों ही चैतन्य से अनुप्राणित हैं दोनों का ही लक्ष्य चेतना का जीवन है।

राधाकृष्णन अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि-सम्पन्न और अध्ययनशील रहे

है। दस वर्ष की अवस्था में आपने विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों से अवगत होने का प्रयास किया। बचपन से ही आपकी संस्कृत और भारतीय दर्शन में प्रमुख रुचि रही है। अपनी प्रथम ज्ञान जिज्ञासा की तृप्ति के लिए आपने पुस्तकों का इतना व्यापक अध्ययन किया कि आपके मित्र आपको चलता-फिरता शब्दकोष कहते थे। सत्रह वर्ष की आयु में जब गणित पदार्थविज्ञान जीवशास्त्र दर्शन और इतिहास में से किसी एक विषय को चुनने के सम्बन्ध में राधाकृष्णन निश्चय नहीं कर पा रहे थे तो उनके एक भाई ने उन्हें दर्शन की अपनी पाठ्य पुस्तकें दे दीं और इस सामान्य घटना ने उनके भविष्य को निर्धारित कर दिया। राधाकृष्णन के अन्तःस्थित दार्शनिक को अनुकूल परिस्थितियाँ मिल गईं। हिन्दुत्व पर अटूट आस्था के साथ जब उन्होंने मिशनरी कॉलेज में प्रवेश किया तब वहाँ के शिक्षकों ने ईसाई धर्म प्रचारक के रूप में उनके स्वधर्म के अभिमान को अत्यधिक ठेस पहुँचाई। शिक्षकों का आक्षेप था कि हिन्दू धर्म दुर्बल और अयोग्य है। वही भारत के राजनीतिक पतन का कारण है। उन्होंने हिन्दू धर्म उसके धर्म-ग्रन्थों तथा पौराणिक गाथाओं और देवताओं की खिल्लियाँ उड़ाईं। हिन्दू दर्शन एवं धर्म को बौद्धिक असंगति तार्किक हेत्वाभास से युक्त और नैतिक दृष्टि से खोखला तथा अमान्य बतलाया। वास्तव में यह हिन्दुत्व के व्यावहारिक और वैचारिक रूप की भर्त्सना थी जिसका तात्पर्य यह था कि न तो हिन्दुत्व के पास सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार है और न उसका कोई व्यावहारिक परिणाम ही है। ऐसी आलोचना ने राधाकृष्णन को पराजय की नैराश्यपूर्ण भावना और दुस्सह दाह से भर दिया। उन्हें लगने लगा कि रक्तहीन हिन्दू धर्म और भारत के राजनीतिक पतन में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। मिशनरियों द्वारा की गई हिन्दुत्व की कटु टीका ने राधाकृष्णन को कुछ काल के लिए विचलित कर दिया। उनकी आस्था डगमगा उठी। जिस परम्परा का अंचल वे पकड़े हुए थे वह हिल अवश्य गई पर टूटी नहीं बल्कि उसकी भित्ति सुदृढ़तर हो गई। हिन्दुत्व की आस्था उनके विचार

मंथन करने पर दार्शनिक आधार पा गई। शंका ने दार्शनिक और तत्त्वज्ञानी धार्मिक को जन्म दे दिया। दार्शनिक यह जानने का प्रयत्न करने लगा कि हिन्दुत्व में क्या कमी है ? हम कैसे अपने समय के बौद्धिक जलवायु और सामाजिक वातावरण के अनुरूप बन सकते हैं ? क्या भारतीय दर्शन स्वस्थ व्यावहारिक विचारधारा का विरोधी है ? क्या पलायन और निष्क्रियता में ही उसने शरण ली है ? क्या उसने मानवता वाद को नहीं अपनाया है ? इन प्रश्नों का समाधान सरल और सहज नहीं था। यह हिन्दुत्व को सत्य की चुनौती थी। उसके दार्शनिक आधार पर आघात था—उसकी उपयोगिता पर संदेह था। यह एक प्रकार से धर्म और तर्कबुद्धि, आस्था और पृच्छाभाव आध्यात्मिकता और यथार्थता के समन्वय की पुकार थी। राधाकृष्णन का नीर-क्षीर विवेक पुस्तकों के विश्व में भ्रमण करने लगा। उन्होंने और भी तीव्र लगन और उत्साह से हिन्दुत्व का गहन व्यापक और निष्पक्ष अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि उनके पितामह और जो भी हों सत्य के प्रभी सत्य के अन्वेषक और अध्येता नहीं हैं। उनकी हिन्दुत्व की संयमित संकीर्ण आलोचना और व्याख्या के मूल में आज उनका प्रचारक का व्यक्तित्व है।

राधाकृष्णन के अन्दर सहज ही दार्शनिक ने जन्म ले लिया। शंका सन्देह, अतृप्त व्याकुलता ही दर्शन को जन्म देते हैं। सन्देह ने उन्हें हिन्दू धर्म का आलोचनात्मक अध्ययन उसकी शास्त्रीय पुस्तकों का पठन और परीक्षण करने को प्रेरित किया। उन्होंने हिन्दू धर्म को सर्वांगीण रूप में सैद्धान्तिक के साथ ही उसके व्यावहारिक और प्रचलित पक्ष में भी समझने का प्रयास किया और उन्हें अनुभव हुआ कि यह धर्म अन्य धर्मों की भाँति ही अनेक कमजोरियों और बुराइयों से ग्रस्त होने के साथ ही अपने मूल रूप में वास्तविक दृढ़ उपयोगी वास्तविक और आध्यात्मिक है। काल का हाथ इसके आधारस्तंभ को हिलाने में असमर्थ रहा है। अपने प्रचलित रूप में यह मानव-स्वभावजन्य दुर्बलताओं से युक्त हो गया है किन्तु इसके मौलिक तत्त्व ठोस और पूर्ण हैं। चरम आध्यात्मिकतायुक्त

यह धर्म मानव-सेवा के आदर्श को अपनाये हुए है। हिन्दू धार्मिक आत्माएँ परम सत्ता के ध्यान के शिखर से उतर कर व्यावहारिक जीवन के प्रांगण में उसके रक्षण के लिए विचरण करती हैं। इसके प्रमाण बुद्ध और शंकर हैं जिन्होंने धर्म की सामाजिक और सांस्कृतिक उपयोगिता को भी भली-भाँति समझा है। मूलतः हिन्दुत्व सभी मनुष्यों में दिव्य चेतना को देखता है—सर्वभूतान्तरात्मा। सभी को समान भाव से योग्य और मूल्यवान मानता है। सभी के मूलगत अधिकार समान देखता है। किन्तु यदि सामाजिक प्रमाद और स्वार्थ के कारण इस आदर्श को हिन्दू लोग मूर्त रूप नहीं दे पाए हैं तो इसके लिए हिन्दुत्व दोषी नहीं है। धर्म का लक्ष्य आध्यात्मिक जागृति है जो सचमुच में ही जाति स्वीकृत मद संपत्ति और शक्ति के अभिमान से मुक्ति है। राधाकृष्णन की स्थापना है कि यद्यपि सदियों के इतिहास एवं काल की दूषित छाया ने हिन्दुत्व को कृत्रिम और कपोलकल्पित सिद्धान्तों तथा विचारों अंधविश्वास चमत्कारवाद भय क्रूरता संकीर्णता आदि से युक्त कर दिया है तथापि जिस रूढ़िमुक्त बुद्धि और मानसिक संयम को हिन्दू धर्म सत्य के अन्वेषण के लिए अनिवार्य मानता है उसे दृढ़तापूर्वक तार्किक ढंग से स्थापित भी करता है। निःसन्देह हिन्दू धर्म की महान् अंतर्दृष्टि मूलतत्त्व प्रेरणा और विचारों के आधारभूत रुचि या भाव भी हमारे लिए मूल्य है। हिन्दुत्व की आध्यात्मिक शक्ति ने राधाकृष्णन को आह्लादित और सुस्थिर किया। इसकी श्रेष्ठता को स्थापित करने तथा इसके पुनर्जीवन की क्षमता को विश्व-विचारकों के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए वे दृढ़ प्रतिज्ञ हुए।

दार्शनिक प्रेम मनन चिन्तन तथा तर्कबुद्धि का संबल पाकर उनकी धार्मिक आस्था व्यक्त और प्रस्फुटित होने लगी। अपने धर्म की श्लाघनीयता और गुरुत्व के प्रति उनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया। उन्हें स्पष्ट भासित हो गया कि भारतीय धर्म महान और व्यापक है उसका आधार तत्त्व चेतना का सत्य है और उसका लक्ष्य मानव-कल्याण है यह व्यक्ति में

मनुष्यत्व एवं विश्वत्व के विकास का आकांक्षी है। राधाकृष्णन का यह विश्वास हठधर्मिता और कट्टरपंथी से मुक्त है। उन्होंने भली-भाँति समझा और स्वीकार किया कि भारतीय धर्म के निर्मल जल में पतनोन्मुख मान्यताओं संकीर्ण विचारों अन्धविश्वासों बर्बरता तथा दासता की सड़ांध जम गई है। किन्तु क्या कोई अपनी ही सन्तान को अपने ही रक्त और प्रतिरूप को इसलिए छोड़ देता है कि उसे कोई रोग लग गया है? रोग का उपचार ही स्वाभाविक है। हिन्दू धर्म के नाम पर जिन रूढ़ि-रीतियों को अपनाया जा रहा है वे निर्जीव जर्जर मान्यताएँ हैं हानिप्रद नियम हैं। प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी एवं धार्मिक के लिए आवश्यक है कि वह धर्म की चेतना को समझे और उसे इस युग की माँगों वैज्ञानिक विचारों तथा जीवन के सक्रिय मूल्यों के रूप में पुनः स्थापित करे। विगत की महागाथा मात्र से कोई संस्कृति अथवा धर्म जीवित नहीं रह सकता—उसे आज के सन्दर्भ में जीना होगा। वही धर्म जी सकता है जिसमें जीवन को गति देने की क्षमता हो—उसे जीवित रहने योग्य बनाने की शक्ति हो।

धर्म दर्शन के भीतर तक पैठने के लिए राधाकृष्णन ने पाश्चात्य दर्शन का भी विस्तृत और गम्भीर अवलोकन किया। तुलनात्मक अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय ऋषियों और मनीषियों की दिव्य अनुभूतियाँ काल्पनिक और भावात्मक ही नहीं करती हैं वरन् उनमें वह सत्व है जो शाश्वत है और जिस किसी प्रकार का भी बुद्धिप्रमाद भुलावा नहीं कर सकता है। पाश्चात्य विचारकों की आलोचना ने उनकी हिन्दुत्व के प्रति श्रद्धा और आस्था को आत्मबल पराक्रम से ऊपर उठाया—उसे वैज्ञानिक और बौद्धिक कसौटी पर कसवाया। उन्होंने जानना चाहा कि हिन्दुत्व वास्तव में क्या है? भारतीय जीवन और धर्म का आधार तत्व क्या है? क्या हिन्दुत्व वैज्ञानिक प्रगति के साथ चलने में असमर्थ है? क्या वह स्थाज्य है? क्या आत्मा का दर्शन निष्क्रियता पतन् के मिथ्यात्व और अयथार्थता का सूचक है? राधाकृष्णन का मन और उन्मान गौवावीन हो गया जब उन्होंने देखा कि धर्म अमन विनय और

विशेषतया हिन्दुत्व के मूलगत सत्य की श्रेष्ठता को ही प्रमाणित करते हैं। उनका दार्शनिक निश्चित हो गया कि भारतीय दर्शन जीवन-सत्य का दर्शन है। वह धारणा एवं चेतना के ठोस सत्य पर आधारित है वह जीवन्त समस्याओं से सम्बद्ध है जीवन की वास्तविकता और परमात्म सत्ता का संगम है। अब राधाकृष्णन ने हिन्दुत्व का संरक्षक बनना अपना धर्म मान लिया। अपनी पुस्तकों निबन्धों तथा देश-विदेश में दिए हुए विभिन्न भाषणों द्वारा वे विश्व को यह बतलाते हुए नहीं थकते हैं कि हिन्दू धर्म ठोस और स्वस्थ धर्म है। इसमें विश्व-संस्कृति को जन्म देने की क्षमतशील शक्ति है। राधाकृष्णन का निश्चित मत है कि पाश्चात्य आलोचकों ने जो हिन्दू धर्म की आलोचना की है वह खोखली है—पूर्वग्रह और संकीर्णता की उपज है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय धर्म का जो प्रचलित रूप है वह संकीर्ण और सीमाबद्ध है। पर किसी भी धर्म को केवल उसके प्रचलित या बाह्य रूप में देखकर उस पर सम्मति दे देना अनुचित ही नहीं अनैतिक अबौद्धिक और अधार्मिक भी है। वास्तव में धर्म की मूलगत चेतना एवं उसके उस आंतरिक हृदय का समझना चाहिए, जिसके लिए वह है। अपने प्रचलित रूप में न केवल हिन्दू धर्म किन्तु सभी धर्म संकीर्ण और सीमाबद्ध हैं।

राधाकृष्णन की दार्शनिक दृष्टि किसी देश-काल संप्रदाय या धर्म की नहीं है वह व्यापक सार्वभौम और सारग्राही है। निःसन्देह भारतीय संस्कृति को उन्होंने पैतृक संपत्ति के रूप में पाया है—वे उसी की उपज हैं। पर साथ ही यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि वे पाश्चात्य विचार धारा में भी पोषित हैं। विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें पाश्चात्य आलोचनात्मक बुद्धि के बाण सहने पड़े हैं। वास्तव में उनका लालन-पालन विश्व-प्रकृति ने किया है। विश्व-चेतना ने उनके मानस को पोषित किया है। यदि मानव की जड़-बुद्धि ने विश्व को पूर्व और पश्चिम में विभाजित कर दिया है तो वे दोनों ही के हैं। सार्वभौमिकता उनकी थाती रही है, वह भारतीयता की विशेषता है। इस सावयुग तथा तीक्ष्ण प्रतिभा अभिव्यक्ति की शैली

भाषा पर असाधारण अधिकार, अध्ययन की प्रवृत्ति विचारों की स्पष्टता आदि के द्वारा उन्होंने विश्व की मानवसमस्याओं के लिए अपने विश्वदर्शन की अनिवार्यता के महत् सिद्धान्त को अभिव्यक्ति दी है। उनकी निष्पक्ष समीक्षा ने न पूर्व को छोड़ा है और न पश्चिम ही को। दोनों के गुणों और अवगुणों का विवेचन करते हुए वे उनके गुणों के समन्वय को अनिवार्य और अवश्यम्भावी मानते हैं। विश्व न पूर्व की थाती है और न पश्चिम की न धर्म की न विज्ञान की। वह उस सत्य का अनुगामी होकर रहेगा जो उसके समस्त प्राणियों के लिए कल्याणकारी है। विश्व-क्षितिज पर जो विद्वेष घृणा और ध्वंस के काले बादल बरस रहे हैं वे जैसे समस्त मानवता को जीवन की चुनौती दे रहे हैं अनजाने ही आज विश्व-दर्शन ने जन्म ले लिया है। जगत् में बाह्य विस्फोट उसके आन्तरिक धर्म की पुकार कर रहा है। समस्त मानवता विश्व-ऐक्य के आँचल में छिपना चाह रही है। यदि वह उन मूलगत तत्वों का अभिनिवेश आश्रय नहीं लेती है जो उसके अस्तित्व के आधार सत्य हैं तो वह अपने विनाश को प्राप्त होगी। सभी का अन्तर कम्पित है। मानवता को पूर्ण रूप से जगना होगा तभी वह विनाशकारी पशु प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर सकेगी। विश्व-दर्शन एवं विश्व-चेतना की सम्यक् स्वीकृति ही मानवजाति की रक्षा करेगी। वह मानव ऐक्य की चेतना है। किन्तु विज्ञान ने जिस बुद्धि को जन्म दे दिया है वह विभाजन-बुद्धि है। विभाजन-बुद्धि ध्वंसात्मक है। वह घृणा द्वेष प्रतियोगिता कुंठा आदि की जननी है। मानवता की रक्षा के लिए इस बुद्धि की तानाशाही से बाहर निकलना होगा—इसका अतिक्रमण करना होगा। यह दृष्टि जो एक देश को दूसरे देश से अलग करती है, एक जाति को दूसरी जाति से एक धर्म और संस्कृति को दूसरे धर्म और संस्कृति से एवं मानव को मानव से अलग करती है यह द्वैत है। राधाकृष्णन का कहना है कि मानव को मानव से मिलाने के लिए हमें हिन्दू धर्म और उसके शाश्वत तत्व को समझना होगा। जो विनाश के मेघ मानवता पर छाये हुए हैं उनको यही धर्म दूर कर सकता है। यह

चेतना का धर्म है। चेतना का धर्म मनुष्यों की सत्तात्मक एकता का धर्म है। यह वह चेतना है जो सार्वजनीन है। अतः इसका धर्म विश्व-धर्म है मानवता का धर्म है। यह विश्व-बन्धुत्व या विश्व-नागरिकवाद है। अपने निबंधों और व्याख्यानों में राधाकृष्णन बार-बार समझाते हैं कि चेतना का धर्म वह सत्य है जो देह और मन व्यक्ति और राष्ट्र तथा राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र सभी में है, जिसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। चेतनाधार सभी को समान देखता है। सभी चेतना हैं। सभी के जीवन का मूल्य सभी के जीवन का अर्थ और प्रयोजन है। चेतना का दर्शन जीवन-दर्शन है। यह कोरा चिंतन नहीं है। यह बतलाता है जीवन क्या है—कैसे रहना चाहिए। राधाकृष्णन ने चेतना के दर्शन के व्यापक और सच्चे अर्थ को समझा है। उनका विश्व का यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसमें विज्ञानों के निष्कर्षों के साथ मानवता की आकांक्षाएँ निहित हैं। वे मानते हैं कि आध्यात्मिक दर्शन अथवा जीवन-दर्शन के लिए तत्त्वशास्त्र ज्ञानमीमांसा और विश्व-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्या करना अनिवार्य नहीं है। अनिवार्य है उन मूल्यों की खोज जो जीवन का उचित निर्देशन कर सकें। जीवन-मूल्यों को समझने की जिज्ञासा ने ही राधाकृष्णन को तुलनात्मक दर्शन की ओर झुकाया अथवा तुलनात्मक दर्शन के अगली विद्वान् होने के कारण वे विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म देने वाली महान प्रणालियों को अपने तीक्ष्ण परिज्ञान द्वारा समझ लेते हैं और फिर इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जीवन-दर्शन का धर्म उन विभिन्न दृष्टिकोणों एवं मूल्यों को एकता के सूत्र में गूँथना है जो मानवीय तथा जीवनोपयोगी है।

राधाकृष्णन ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा व्यापक अध्ययन निष्पक्ष चिन्तन और मनन द्वारा उस दर्शन का आह्वान किया जो न मात्र पूर्व का है और न मात्र पश्चिम का। यह शाश्वत मनुष्यत्व का दर्शन है। उनके दर्शन उनकी समन्वयात्मक दृष्टि, उदार प्रवृत्ति और नैतिक उत्साह का आधार-स्तम्भ चेतना है। उनके व्यापक सर्वग्राही बोध ने उस विश्व

कल्याणकारी सत्य का दर्शन किया जो धर्म देश वर्ग की सीमाओं से मुक्त मनुष्यत्व का सत्य है; जो सर्वव्यापी सर्वकालीन और सर्वमानवदायक है। इस अर्थ में राधाकृष्णन एक नवीन सिद्धान्त—सांस्कृतिक समन्वयात्मक सिद्धान्त—के प्रवर्तक हैं। पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों को एक-दूसरे के अत्यधिक निकट लाने एक-दूसरे का सहयोगी बनाने एवं उनकी विभिन्नता में एकता की स्थापना करने का श्रेय उन्हें है। अपने दर्शन का वहन करते हुए उन्होंने कभी भी द्रष्टा ऋषि या सिद्ध का आवरण धारण नहीं किया। अपने व्यापक अनुशीलन पाण्डित्य शोध-बुद्धि व्यवस्थित चिंतन निर्भ्रान्त विचार, प्रस्तुतीकरण की उदात्त शैली तथा भाषा की अनूठी प्रांजलता के साथ आपने वैज्ञानिक मानस के सम्मुख उस सत्य को जीवंत शब्दों में रख दिया जो शाश्वत है। राधाकृष्णन का दर्शन उस महान् व्यक्तित्व का दर्शन है जिसने जीवन की समस्याओं पर तर्क-वितर्क एवं बौद्धिक चिंतन ही नहीं किया वरन् उन्हें समझा भी है। तटस्थ वीतरागी बुद्धिजीवी की भाँति वे जीवन की समस्याओं को निस्सार बौद्धिक व्यायाम या पहेलि की समस्याओं में परिणत नहीं कर देते हैं। उनमें घुल-मिलकर एवं उन्हीं के बीच जीवन के सुख-दुःख का स्पंदन अनुभव कर उनके विभिन्न पहलुओं को भाषा के ऊपर अपने अद्वितीय अधिकार के साथ वह जिस भाँति व्यक्त कर देते हैं वह श्रोता और पाठक दोनों को रोमांचित कर देता है। वेगवती नदी के प्रवाह की भाँति उनके वाक्य प्रवाहित होते जाते हैं और जो वे कहना चाहते हैं उनकी सजीव प्रतिमा हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है। द्रष्टा की भाँति का वक्तव्य न होते हुए भी आपकी वाणी दिव्य अनुभूति की स्निग्धता और आनन्द से ओतप्रोत हो जाती है। आपके भाषणों की मार्मिकता और भावपूर्णता ने सर्वत्र ही श्रोताओं को प्रभावित और मंत्रमुग्ध किया है। अमरीका और इंग्लैण्ड का विद्वत् समुदाय तो आपसे इतना प्रभावित हुआ कि उसने आपको बार-बार आमंत्रित किया। राधाकृष्णन के व्यक्तित्व और वाक्-शक्ति में अद्भुत आकर्षण है। सार्वभौम भारतीय विचारकों का अधिक-से-अधिक सम्मान में भारतीय

दर्शन की ओर ध्यान आकर्षित करने उसमें रुचि लेने तथा उसे मूल्यवान समझने का श्रेय राधाकृष्णन को ही देना होगा। स्वयं उन पर, उनके कृतित्व व्यक्तित्व तथा दर्शन पर पाश्चात्य विचारकों ने जो कुछ कहा और लिखा है वह महत्त्वपूर्ण तथा महान् है। राधाकृष्णन से पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन की ओर पाश्चात्य विचारकों को आकृष्ट करना चाहा था। किन्तु उन्हें अपने इस प्रयास में व्यापक सफलता प्राप्त न हो सकी क्योंकि यूरोपीयों ने उन्हें धर्म प्रचारक ही माना। अतः पश्चिम की संदेहवादी प्रवृत्ति भारतीय दर्शन एवं हिन्दू धर्म की महत्ता को सहजता से स्वीकार नहीं कर सकी। राधाकृष्णन के व्याख्यानों और पुस्तकों में पश्चिम को वह निष्पक्ष दार्शनिक मिला जिसकी श्रेष्ठता उन्होंने स्वीकार की तथा जिसे उन्होंने पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में समन्वय स्थापित करने वाला युग-नेता माना।

वास्तव में राधाकृष्णन की सबसे महान् देन यह है कि आधुनिक युग के अनुरूप उन्होंने वैज्ञानिक विधि से भारतीय दर्शन की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की है। आलोचनात्मक और तुलनात्मक प्रणाली को अपनाकर उन्होंने पौराणिक सत्य के शाश्वत रूप की पुनः स्थापना की है। पूर्व और पाश्चात्य दोनों दर्शनों की महत्ताओं पर समान अधिकार होने के कारण उन्होंने दोनों का तटस्थ विश्लेषण करके यूरोपीय विचारकों, कट्टर धर्मावलम्बियों, रूढ़िग्रस्त हिन्दुओं, संदेहवादी बुद्धिजीवियों और वैज्ञानिक वातावरण में जीने वालों को हिन्दुत्व के शाश्वत सत्य का संदेश दिया है। यदि मानवता को जीना है तो उसे इस धर्म के मूलभूत रूप को अपनाकर इसके स्वस्थ स्वरूप को आत्मसात् करना होगा। वैदिक धर्म का यह सत्य किसी देश या राष्ट्र की धरोहर नहीं है—शाश्वत सत्य को राष्ट्रीय और जातिगत सीमाओं में बाँधने वाले अपनी ही संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। राधाकृष्णन हिन्दुत्व के जिस रूप के उपासक हैं वह व्यापक और विश्वव्यापी है। ऐसा विश्वव्यापी भाव विश्व-दर्शन को जन्म देता है। राधाकृष्णन उस विश्व-दर्शन के प्रणेता हैं। उनकी स्थापना है,

कि सत्य वह विश्वव्यापी सारतत्त्व है जो सम्पूर्ण है। पौर्व और प्राच्य दर्शन एक-दूसरे के पूरक होकर ही रह सकते हैं अन्यथा अन्य कोई परिणति सम्भव नहीं है। एक-दूसरे का निराकरण करने एक-दूसरे को हास्यास्पद अवांछनीय अनुपयोगी और निकृष्ट सिद्ध करने में वे अपनी क्षमता का दुरुपयोग कर अपने गौरव को धूल में मिला रहे हैं और अपने ध्येय में स्खलित हो रहे हैं। यदि एक देह का दर्शन है एवं जड़वादी सांसारिक दृष्टिकोण को अपनाता है तो दूसरा आत्मा एवं अध्यात्म का दर्शन है। दोनों में निहित सत्य एक-दूसरे के सहयोग से ही पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। सत्य सम्पूर्ण है भीतर-बाहर सर्वत्र है। हमें देह और आत्मा को सम्पूर्ण सत्य के संदर्भ मे समझना होगा उनके समुचित विकास को मानवता के विकास और कल्याण की तुला में तोलना होगा। मानव कल्याण आत्मा की श्रेष्ठता स्थापित करता है। जीवन के वास्तविक तथ्य अनुभव तथा दिव्य पुरुषों की अनुभूति आत्मा की श्रेष्ठता को स्थापित करती है। देह के स्वस्थ जीवन और उसके सुनिर्देशन के लिए आत्मा एवं चेतना का दर्शन अनिवार्य अवलम्ब है। पाश्चात्य जड़वादी सभ्यता को अपने दुर्लभ तथा आश्चर्यजनक आविष्कारों के होते हुए भी मानवता को शांति नहीं दे पाई है उसके मूल म उसका चेतना के प्रति उपेक्षा का भाव है। मानव-कल्याण आत्मज्ञान एवं चेतना के दर्शन की अपेक्षा रखता है।

राधाकृष्णन मपतमव अभिषशाका से भू-जीवन को ज्योतिर्मय करने के आकांक्षी तथा उसके लिए सतत प्रयत्नशील हैं। तटस्थ भाव से विभिन्न सस्कृतियों सिद्धान्तों और दर्शनो का अध्ययन करके वे उस आधारभूत सत्य की पुन: स्थापना करने के इच्छुक हैं जिसके बिना अणु-युग का मानव अपने विनाश का स्वयं कारण बन रहा है। आधारभूत सत्य अथवा शाश्वत चैतन्य का दर्शन मानवता का दर्शन एवं विश्व-दर्शन है। राधाकृष्णन की मूल धारणा है कि बिना विश्व-दर्शन को चरितार्थ किए मानव स्वस्थ जीवनयापन नहीं कर सकता है। अपने विश्व-दर्शन मे

उन्होंने जीवन की मरयात्मकता को ध्यान में रखते हुए, शाश्वत सत्य की कसौटी पर, विभिन्न सिद्धान्तों और विचारों वैज्ञानिक आविष्कारों धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों राजनीतिक और सामाजिक क्रांतियों तथा दार्शनिक विचारधाराओं का मूल्यांकन कर उनमें अन्तःस्थित सत्यों का एकीकरण करने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनका समन्वयात्मक दर्शन एवं विश्व-दर्शन न युग का तिरस्कार करता है और न वर्तमान की अंध-प्रशंसा न जड़वाद को त्याज्य मानता है न आत्मवाद को अयथार्थ। उनका कहना है सत्य अपनी समग्रता में वह चिरंतन मूल्य है जो हमें आकर्षित और आनन्दित करने के साथ ही उचित विधि से जीना सिखाता है। आज जब कि सघर्ष वैमनस्य कुंठा शक्ति की महत्त्वाकांक्षा उन्माद तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का ध्वंसात्मक पक्ष मानवता को मिटाने के लिए अग्नि-वमन कर रहा है, दर्शन का दायित्व महान् और गहन हो गया है। मानवता कराहकर उससे पूछ रही है—वह कैसे जीये ? कैसे जिए ? उचित जीवन क्या है ? क्या वर्तमान जीवन मानव गौरव के अनुरूप है ? क्या वैज्ञानिक आविष्कार, वैराग्यवाद अभावात्मकवाद भोगवाद अथवा जड़वाद अपने-आपमें पूर्ण है ? क्या वे शांति प्रदान कर सकते हैं ? राधाकृष्णन का दर्शन इन स्वाभाविक किन्तु आवश्यक जिज्ञासाओं का समाधान करता है। मानव बुद्धि में उस उन्मुक्त वातायन को खोल देता है जहाँ से विश्व-सौन्दर्य तथा सत्य का प्रकाश झलकता है। राधाकृष्णन का विश्वास है कि बिना व्यावहारिक जीवन पुत्थियों को सुलझाए दर्शन सिद्धान्तवादक नहीं हो सकता। जिस भाँति समझदार माता-पिता समान स्नेह से अपने सभी बच्चों का दुलार देकर और शिक्षित कर उन्हें सुविकसित करते हैं उसी भाँति दर्शन को भी ज्ञान और जीवन तथा कला और विज्ञान के सभी रूपों विधियों, वादों तथा मार्गों का अपने भीतर समुचित समावेश कर अपना सम्यक विकास करना चाहिए।

विद्यार्थी-काल से ही राधाकृष्णन की धर्म एवं दर्शन की अथाह

शक्तियों तथा उसके व्यावहारिक मूल्य पर प्रखण्ड विश्वास रहा है। इस विश्वास को उनके अनुभव अध्ययन और तीक्ष्ण बोध ने दृढ़ से दृढ़तर बना दिया है। वास्तव में इस विश्वास को ही उन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। यही उनके विश्व-दर्शन का जनक है।

अध्याय २

दर्शन का मूल्य और दायित्व

राधाकृष्णन दर्शन का मूल्यांकन यथार्थ की कसौटी पर करते हैं। दर्शन जीवन से समग्रतः सम्बन्धित है। यदि वह जीवन्त समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ है तो बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वह निरर्थक व्यायाम जो किसी भी विवेकशील प्राणी को वितृष्णा से भर देता है। उनका कहना है कि दर्शन की आधारशिला वास्तविकता का यथार्थ बोध है, न कि वह धारणा जो मात्र शुष्क तर्क और कल्पनात्मक चिन्तन है। यह वह यथार्थ आधार है जो बाह्य प्रकृति के तथ्यों वैयक्तिक मानस तथा आध्यात्मिक जीवन के तथ्यों एवं उन सभी का जो हमारे भीतर बाहर तथा परे है समावेश करता है।

वास्तविकता की इस भूमि से उपजा हुआ दर्शन मानव-जीवन का पथप्रदर्शक अभिन्न मित्र और सहायक है। मानव का विश्व वह विश्व है जहाँ वह विवेकहीन इन्द्रियों आवेगों सहज प्रवृत्तियों एवं जैव आवश्यकताओं के प्रवाह में बह नहीं जाता प्रत्युत इन सभी का अर्थ समझना चाहता है। वह आन्तरिक और बाह्य घटनाओं का अपनी सत्ता के अनुरूप मूल्यांकन करना चाहता है। वह स्वभावतः चिन्तनशील है। अपने चिन्तन निमग्न एवं विवेकशील मानस के अनिवार्य धर्म के अनुरूप वह सत्य के स्वरूप को समझने के लिए अनवरत प्रयत्नशील है। वह सत्य की चेतना में जीना चाहता है, उसी में मिल जाना चाहता है। यही कारण है कि अपने अन्धकार बन्धन और निराशा के अगाध क्षणों में मानव स्पृहा और प्रेम से सत्य की ओर मुड़ता है—वह सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है

शक्तियों तथा उसके व्यावहारिक मूल्य पर अदम्य विश्वास रहा है। इस विश्वास को उनके अनुभव, अध्ययन और तीक्ष्ण बोध ने दृढ़ से दृढ़तर बना दिया है। वास्तव में इस विश्वास को ही उन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। यही उनके विश्व-दर्शन का जनक है।

अनिवार्यता तथा अस्तित्व इस पर निर्भर है कि वह इन समस्याओं का बौद्धिक समाधान ही नहीं वरन् व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत कर कल्याणप्रद जीवन के निर्माण में सक्रिय योग दे सकता है या नहीं।

दर्शन का दायित्व निर्माणात्मक और सृजनात्मक है वह मानव जीवन का चिर सहचर और पथ प्रदर्शक होकर ही बी सकता है। आज के संघर्षरत युग में उसका दायित्व और भी अधिक बढ़कर विभिन्नांसी एवं जटिल हो गया है। प्रज्वलित होती हुई राजनीतिक अधाति प्रभुत्व की आकांक्षाओं का भ्रामक नर्तन तथा ध्वंसकारी वैज्ञानिक प्रतिभाओं का सर्वस्व विनाश का आह्वान मानवजाति मानव-जीवन तथा मानव-मूल्यों को बाधित कर रहा है। उसम को आज जाग्रत तथा उद्बुद्ध होना है, उसे शक्तिशाली होकर विनाश के कीटाणुओं को समूल नष्ट करना है। वैज्ञानिक आविष्कारों को मानव-चेतना के तत्त्व से आवित करना शक्ति की मामता का विश्वीकरण करना तथा राजकीय कूटनीति को सृजनात्मक मंगलमय मार्ग दिखाना ही दर्शन का ध्येय है। परिणामतः वह दार्शनिक सिद्धांत या विचार प्रणाली निरर्थक ही नहीं त्याज्य भी हो जाती है जो जीवन के विभिन्न पहलुओं—नैतिक-सामाजिक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मानसिक—दैहिक आदि—को एकता के सूत्र में गूँथ सकने में तथा उनके विकास और कल्याण की धात्री बन सकने में असमर्थ है। दर्शन को अपनाने एवं उसे जीवन का संबल मानने के पूर्व कोई भी विद्वान प्रश्न कर सकता है कि क्या दर्शन जीवन की यथार्थ व्याख्या करता है? क्या वह जीवन में वांछनीय परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है? क्या दर्शन ने ऐतिहासिक यथार्थ में कोई महत्त्वपूर्ण योग दिया है अथवा क्या वह जीवन की गतिविधियों में चेतना के सत्य को अभिव्यक्ति दे पाता है?

राधाकृष्णन यह मानते हैं कि यदि दर्शन इन प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर नहीं दे पाता तो वह दूध की मक्खी की भाँति है जिसे फेंक देने ही में मनुष्य का कल्याण है। ऐसा दर्शन जिसकी नींव यथार्थ पर नहीं है मृगतृष्णा मात्र है। अथवा यदि दर्शन मानव जीवन को सक्रिय सहयोग

ताकि वह कठिनाइयों को झेलने की शक्ति बटोर सके जी सके तथा पराजयी न हो जाए। वह उस प्रकाश को जानना चाहता है जो उसके मार्ग को प्रकाशित कर सके उसका पथ सुनिर्देशित कर सके। उसे असत् से सत् की ओर अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले जा सके। राधाकृष्णन का विश्वास है इस महद् दायित्व का भार केवल दर्शन ही वहन कर सकता है। विश्वास ही क्यों वे तुलनात्मक और आलोचनात्मक पद्धति द्वारा भी अपनी इसी मान्यता को सिद्ध करते हैं। विभिन्न विज्ञानों और कलाओं के क्षेत्र का उदार और मर्मभेदी निरीक्षण करके वे दर्शन के समक्ष उन्हें संकुचित पाते हैं। वास्तव में कला और और विज्ञान का पूर्ण प्रस्फुटन दर्शन की अपेक्षा रखता है। बिना दार्शनिक अवलम्ब के उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। दर्शन की शक्तियाँ असीम हैं उसका क्षेत्र सर्वग्राही है उसकी चेतना सर्वव्यापी है तथा दृष्टिकोण मंगलमय है। वह भूले-भटकों का मार्गदर्शक और निरवलम्ब का अवलम्ब है।

व्यक्ति में अपने स्वरूप को पहचानने की सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जीवन के कटु अनुभव और सीमाओं का बोध उसे अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिए बाध्य करता है—वह कौन है? कहाँ से आया है? उसके अस्तित्व का क्या अर्थ है? वह इस विविध सृष्टि के रहस्य को जानना चाहता है। वह उस जगती की वास्तविकता और मूल स्रोत को खोजने का प्रयत्न करता है जिस पर उसका अस्तित्व निर्भर है। वह वस्तुओं के स्वभाव उनके उत्पन्न और विलीन होने के रहस्य-क्रम को जानने का इच्छुक है। वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने को व्याकुल है। विश्व में अपनी स्थिति और प्रारब्ध जानने का वह जिज्ञासु है। औचित्य-अनौचित्य का क्या अर्थ है? नैतिकता सदाचार एवं आचरण का कुशल मानव जीवन में क्या महत्त्व रखता है? क्या चरित्र की पूर्णता उसे शान्ति दे सकती है?—ऐसी सभी जिज्ञासाएँ एवं जीवन्त समस्याएँ उसे दर्शन की ओर ले जाती हैं। दर्शन की वांछनीयता,

एकत्व का सूचक है। सत्यमार्गी ही सत्यगामी है।

दर्शन को जीवन का भावात्मक बौद्धिक और आध्यात्मिक संबल मानने वाले राधाकृष्णन को पूर्ण विश्वास है कि दर्शन बुद्धिगामी मात्र सिर्यों का विलासस्वरूप अथवा बौद्धिक व्यायाम के प्रेमियों का शतरंज का खेल नहीं है। उनकी मान्यता है कि दर्शन जीवन के तात्कालिक विषयों से पलायन नहीं है। वह चेतना के उस प्रकाश का द्योतक है जो वास्तविकता की आधारशिला पर खड़ा है। वह चिंतन और साधना का फल है। दर्शन आत्मा की एकाकी तीर्थयात्रा है, वह जीवन की गति एवं स्वयं जीवन है। वह मानव को कर्तव्य और औचित्य का बोध ही नहीं कराता वरन् उसका सर्वोच्च वांछनीय ध्येय से साक्षात्कार करा देता है। दर्शन को विशुद्ध चिंतन एवं अवास्तविक अव्यावहारिक बौद्धिक कलाबाजियों का पर्याय मानना उसे निष्प्राण कर देना है। राधाकृष्णन दर्शन को तर्कशास्त्र या वैज्ञानिक अनुसंधानों तक सीमित नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शन मात्र विभिन्न विशिष्ट समस्याओं की खोज के परिणामों को साथ रखना या एकत्रित करना नहीं है और न यह मात्र वह तार्किक साधारणीकरण है जो तर्क के समावेश की मांग को संतुष्ट करना अपना प्रयोजन मानता है। ऐसी अमूर्त धारणाओं में यदि कुछ है, तो मात्र रूपात्मक संगति है जिसका जीवन की मूर्त समस्याओं के साथ मौलिक सम्बन्ध नगण्य-सा ही है।

राधाकृष्णन के लिए दर्शन अनिवार्यतः व्यावहारिक होने के कारण मनुष्य की उन मूलभूत चिन्ताओं से सम्बन्ध रखता है जो अमूर्त विचारों की तुलना में ठोस, सशक्त, वास्तविक और जीवन्त हैं। दर्शन संपूर्ण जीवन की आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करता है। वह जीवन से अभिन्न रूपेण सम्बन्धित है। उसके क्षेत्र और लक्ष्य को तर्कशास्त्र की बौद्धिक बारीकियों तक सीमित नहीं किया जा सकता। दार्शनिक संसार के बाहर से विचार नहीं करता वरन् उसी में रहकर एवं उसी का अविच्छिन्न अंग होकर विचार करता है।

देने के बदले उसे स्वप्नवत् और मिथ्या कहकर उसकी छाया से घबराता है तो वह धर्म का प्रलाप है । यदि शक्तिशाली राजनीतिज्ञों प्रतिभा सम्पन्न आविष्कर्ताओं तथा धर्मोन्मत्तों ने ही ऐतिहासिक घटनाओं का कठपुतलियों की भाँति संचालन किया है तो दर्शन स्वप्न में सुनी वंशी ध्वनि मात्र है जो अयथार्थ और अवास्तविक है—वह वंशी की विमुग्धावस्था में आकर्षित और आनंदित करती है किन्तु जीवन यथार्थ की पीठिका में वह पलायन मात्र तथा सत्य से मुँह मोड़ लेना-भर है । विश्व में रहकर उसकी वास्तविकता की ओर से मुँह फेर लेना आत्मघातक तथा मृत्यु का सूचक है । मानव जाति ऐसी पलायन वृत्ति को अपनाकर अपने अमंगल का आवाहन करेगी ।

जगत की वास्तविकता का बोध राधाकृष्णन को उन सभी विचारों सिद्धांतों और परम्पराओं का विरोधी बनाता है जो जगती को क्षणभंगुर कहकर उसके वास्तविक कार्य-कलापों से तटस्थ रहते हैं । धर्म एवं सत्य की चेतना हमें बताती है कि संसार धर्मक्षेत्र है । अनुभवगम्य इंद्रिय जगत को शाश्वत की छाया या प्रतिबिंब मात्र कहकर उसके मिथ्यात्व को ही सब कुछ मान लेना निष्क्रियता और घोर निराशावाद का वरण कर लेना है । कालाधीन संसार की क्षणभंगुरता त्याज्य नहीं है—इससे मुक्ति पाने का कोई अर्थ नहीं है । इसी में रहकर, इसके क्रियाकलापों में दिव्य जीवन की अनुभूति प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है । जिस पवित्रता की कल्पना अतीन्द्रिय लोक में की जाती है उसी की स्थापना इस पृथ्वी पर करनी चाहिए । लोक से परलोक तक एक ही सत्य का संचरण है । इस प्रकार आचरण को भूलकर दोनों में अंधकार-प्रकाश का भेद देखना तथा ऐहिक जीवन के प्रति जरा-सी भी तटस्थता तथा भ्रम उत्पन्न करने वाले घोर अवसाद एकस्वरता और अकर्मण्यता का भाव रखना उस महान् जीवन की उपेक्षा करना है जिसका मानव प्रतीक है । राधाकृष्णन का कहना है कि दर्शन मनुष्य को सत्य-चेतना में रहना तथा उसी में कर्म करना सिखाता है । वह वास्तव में ज्ञान और प्रज्ञा के

अध्ययन अपनी बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया। वे विश्व-जीवन की ज्वलंत समस्याओं का व्यावहारिक समाधान पाने के लिए व्यग्र रहे हैं। अपने पूर्वजों और अग्रजों के दर्शन की महानता के सम्मुख वे विनत हैं। उन्हें अपनी श्रद्धा और भक्ति समर्पित करते हुए तथा उनके सहजज्ञान एवं दिव्य अनुभूति की व्याख्या आज के सन्दर्भ में अनिवार्य मानते हुए वे इस काम को स्वयं उठाते हैं। वे चाहते हैं कि पूर्वजों की दुर्लभ और अमूल्य अनुभूतियाँ कोरी निष्क्रिय अनुभूतियाँ ही न रह जाएँ। वे व्यक्ति विशेष तक सीमित न रहकर समस्त जीवन को गति दे सकें उसमें व्यापक सत्य प्रतिष्ठित कर सकें। राधाकृष्णन ने इस दृष्टिकोण से दिव्य अनुभूतियों की अभिनव व्याख्या की है। इस नवीन व्याख्या के कारण ही वे महान् दार्शनिकों का आभार स्वीकार करते हुए भी अपने को किसी एक का अनुयायी नहीं मानते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि उन्होंने इन सबसे बहुत-कुछ सीखा-समझा है, एवं वे इनसे प्रभावित भी हुए हैं पर साथ ही वे स्पष्टतः कहते हैं कि वे प्राचीन स्थिर परम्पराओं एवं स्थापित सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने में असमर्थ हैं। दर्शन जीवन की गति के साथ आगे बढ़ता है। वह किसी एक स्थिति पर रुक नहीं सकता।

राधाकृष्णन का दर्शन विशिष्ट मौलिक महत्त्व रखता है। यह मौलिक इस अर्थ में नहीं है कि उन्होंने एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वरन् इस अर्थ में कि उन्होंने दिव्य अनुभूतियों और शाश्वत सत्यों को जीवन की विकासशील गतिमयता के साथ सम्बद्ध किया है। उन्होंने देश काल परिस्थिति के अनुरूप बौद्धिक-तार्किक रूप का स्पष्टीकरण किया है। ऋषि-मुनियों ने अपने शोध एवं साधना-तपस्या द्वारा जिस शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया है उसके तार्किक रूप को समझाने का महत् कार्य राधाकृष्णन ने किया है। उनके इस कार्य का ही परिणाम है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक मानस तथा जिज्ञासु बुद्धि भारतीय दर्शन में रुचि लेने लगी है। उसे सत्य और उपयोगी मानते हुए उसका अध्ययन

सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होने के कारण दर्शन मानवता की थाती है, व्यक्ति-विशेष की धरोहर नहीं। दार्शनिक उस विश्व की समग्रता को समझना चाहता है जिसमें वह रहता है, जीता और साँस लेता है। उसकी समस्याएँ मनुष्य-जाति की समस्याएँ हैं। विश्व का स्वरूप, मनुष्य का स्वभाव, उसकी उत्पत्ति का कारण तथा विश्व में उसकी स्थिति—ये वे मूलभूत शाश्वत जिज्ञासाएँ हैं जिनका समाधान आत्म-प्रबुद्ध प्राणी चाहता है। दर्शन का काम मात्र चिन्तन अथवा तात्त्विक सत्यों का बौद्धिक समाधान करना ही नहीं है अपितु उन सत्यों की स्थापना करना है जो आत्मा के जीवन के लिए आवश्यक हैं। बिना तात्त्विक सत्य को आत्मसात् किये मनुष्य का जीवन उतना ही चिन्ताग्रस्त हो जाता है जितना अमावस के दिन घने जंगल में भूले-भटके थके व्यक्ति का। अपनी दिव्य चेतना के जीवन को अपनाकर ही व्यक्ति अपने तथा अपने से अभिन्न रूप से सम्बन्धित विश्व के समस्त प्राणियों के लिए मंगलमयीसुख की वर्षा कर सकता है। राधाकृष्णन दर्शन उसे ही मानते हैं जो मानव जीवन के विकास और उन्नयन में सक्रिय रूप से सहायक है। दर्शन अपने निष्क्रिय रूप में उस मणि की भाँति है जो सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी निष्प्राण है।

दर्शन और जीवन में अपृथक्त्व देखने के कारण राधाकृष्णन दर्शन का मुख्य लक्ष्य सृजनात्मक मानते हैं। वास्तविक अर्थ में दर्शन वह है जो जीवन के शुभ विकास में सहायक हो। जीवन की प्रसूत की हुई बुराइयों, कुण्ठाओं, संकीर्णताओं से मुक्त कर उसकी स्वस्थ प्रगति के लिए मार्ग प्रशस्त करना दर्शन के लिए अनिवार्य हो जाता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य के वास्तव स्वरूप की व्याख्या करे। देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप सत्य का स्पष्टीकरण करे। ऋषि-मुनियों की दिव्य अनुभूतियों को विगत का सत्य और ऐश्वर्य मानकर संतोष न कर उन्हें आज के युग एवं परिस्थिति होते हुए समाज की पृष्ठभूमि पर स्थापित करे। जब देखा जाए तो राधाकृष्णन ने स्वयं अपने दर्शन का लक्ष्य यही माना है। उन्होंने पौर्व और पाश्चात्य दर्शनों का ज्ञान

विचारों में न पड़कर राधाकृष्णन ने पाश्चात्य और पौर्वात्य दर्शनों के विकास की विभिन्न स्थितियों—प्राचीन मध्ययुगीन और अर्वाचीन—का सारग्राही विहंगावलोकन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दर्शन का इतिहास इन सभी प्रकार की जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान कर देता है। वह उन जिज्ञासुओं एवं सत्यान्वेषियों को पूर्ण तृप्ति दे सकता है जो सत्य को परखने की क्षमता रखते हैं। दर्शन जीवन है, वह जीवन के लिए अनिवार्य मार्ग है। जिस विश्व में मानव जीवन-यापन करता है वह सुसंयोजित आध्यात्मिक सम्पूर्णता का विश्व है। इसमें घटनाएँ न तो अकस्मात् घटित होती हैं और न निरुद्देश्य ही। राधाकृष्णन दिव्य हेतुवाद के पोषक हैं। वे सभी घटनाओं को उद्देश्ययुक्त देखते हैं। प्रयोजनीय एकसूत्रता में बँधी हुई प्रत्येक घटना क्रम अथवा वस्तु अर्थगर्भित है। जब उन्हें समग्र से विच्छिन्न करके उनके एकाकी सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तो वह आकस्मिक निरुद्देश्य एवं व्यर्थ होने लगती है। मनुष्य को चाहिए कि वह समग्र को समझे। दिव्य चेतना अथवा महत् उद्देश्य के सन्दर्भ में ही उचित मूल्यांकन सम्भव है। वे स्वयं अपने जीवन की घटनाओं—घर का वातावरण, शिक्षा तथा बाई का पुस्तकें देना आदि को—सोद्देश्य मानते हैं। उनका कहना है विश्व में जो आज सर्वत्र अव्यवस्था है, पाप, द्वेष, अग्नि, मार-मारि का जो हाहाकार है एवं चारों ओर जो निराशा का अन्धकार छाया हुआ है उसका मूल कारण यही है कि मनुष्य सर्वव्यापी दिव्य चेतना से अपने-आपको वियुक्त समझने लगा है। वह अपने-आपको असम्बद्ध इकाई मान बैठा है एवं उसके अहं ने अपने को ही सब-कुछ मान लिया है। वह अपनी अंश मात्रा की अनन्त अपूर्णता को पूर्ण मानने लगा है। अतः उसने उस आनन्ददायक भागवत चेतना के जीवन की ओर से बरबस आँखें मूँद ली हैं जो प्रत्येक का अन्तरंग तत्त्व है जो उसे अवचेतना के द्वन्द्व से मुक्त कर स्वतन्त्रता के आनन्द में डुबा देता है।

धर्म एवं दर्शन के समन्वयात्मक रूप को अपनाने वाले राधाकृष्णन सदैव

करने के लिए उत्सुक हो उठी है। कई पाश्चात्य विचारकों ने राधाकृष्णन पर लिखा है, कई उन पर लिख रहे हैं कई उनका भाषण सुनने को उत्कंठित हैं और इन सबके मूल में पाश्चात्य विचारकों की वह उत्कट जिज्ञासा है जो भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व को समझना चाहती है। राधाकृष्णन के नाम की व्यापकता निःसन्देह हिन्दू दर्शन की लोकप्रियता की सूचक है। साथ ही इस लोकप्रियता का श्रेय राधाकृष्णन को ही है उनका व्यक्तित्व उनके भाषणों का अद्भुत आकर्षण उनके प्रस्तुतीकरण की शैली भाषा की प्रांजलता वाणी का ओज और कवित्व उनके विचारों की स्पष्टता को मन में अंकित करने में सोने में सुहागे का काम करते हैं। जीवन के विविधायी सम्यक विकास को मूलगत सत्य के सन्दर्भ में समझाते हुए वे उन मान्यताओं की स्थापना करते हैं जो स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य तथा आत्मा के विकास के लिए परम वांछनीय हैं। यदि दर्शन जीवन की गति का सहधर्मी है और उसका ध्येय शुभ जीवन का सृजन करना है तो वह पूर्वजों के ज्ञान तथा उनकी दिव्य अनुभूतियों तक सीमित रहकर चरितार्थ नहीं हो सकता। उसे सक्रियतापूर्वक जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करना होगा।

दर्शन के सृजनात्मक ध्येय का ध्यान में रखकर जब जिज्ञासु मन उसके इतिहास का अध्ययन करता है तो वह सहज ही यह जानने के लिए व्यग्र एवं उत्कंठित हो उठता है कि सत्य के अन्वेषण एवं दार्शनिक साधना क्रम में सुख-दुःख आशा-निराशा आह्लाद-चिन्ता आदि अनुभवों का जो वृत्तांत मिलता है उसका जीवन के लिए कुछ मूल्य है या नहीं। दर्शन का इतिहास बताता है कि विभिन्न दार्शनिकों ने अपने चिन्तन अध्ययन और साधना में विभिन्न तर्क प्रणालियों और बोध पद्धतियों को जन्म दिया है विभिन्न आदर्शों तथा पुरुषार्थ और मोक्ष के स्वरूप की स्थापना की है। क्या इन प्रणालियों चिन्तन-पद्धतियों एवं आदर्शों का कुछ अर्थ और मूल्य है? क्या इनकी जीवन के लिए कुछ उपादेयता है?

ऐसी समस्याओं की ज्ञान-मीमांसा एवं तर्कशास्त्र और सत्तात्मक

विचारों में मग्न रहकर राधाकृष्णन ने पाश्चात्य और पौर्वात्य दर्शनों के विकास की विभिन्न स्थितियों—प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन—का सारग्राही विहंगावलोकन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दर्शन का इतिहास इन सभी प्रकार की जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान कर देता है। वह उन जिज्ञासुओं एवं सत्यान्वेषियों को पूर्ण तृप्ति दे सकता है जो सत्य को परखने की क्षमता रखते हैं। दर्शन जीवन है, वह जीवन के लिए अनिवार्य साधन है। जिस विश्व में मानव जीवन-यापन करता है वह सुव्यवस्थित आध्यात्मिक सम्पूर्णता का विश्व है। इसमें घटनाएँ न तो अकस्मात् घटित होती हैं और न निरुद्देश्य ही। राधाकृष्णन दिव्य हेतु-वाद के पोषक हैं। वे सभी घटनाओं को उद्देश्यगत देखते हैं। प्रयोजनीय एकसूत्रता में बँधी हुई प्रत्येक घटना क्रम अथवा वस्तु अर्थपूर्ण है। जब उन्हें समग्र से विच्छिन्न करके उनके एकाकी अंश को महत्त्व देने लगते हैं तो वह आकस्मिक, निरुद्देश्य एवं व्यर्थ होने लगती है। मनुष्य को चाहिए कि वह समग्र को समझे। दिव्य चेतना अथवा महत् उद्देश्य के सन्दर्भ में ही उचित मूल्यांकन सम्भव है। वे स्वयं अपने जीवन की घटनाओं—घर का वातावरण, शिक्षा तथा भाई का दुष्कर्म देना आदि को—सोद्देश्य मानते हैं। उनका कहना है विश्व में जो आज सर्वत्र अव्यवस्था है, राग द्वेष, घृणा, मद आदि का जो हाहाकार है एवं चारों ओर जो निराशा का अन्धकार छाया हुआ है उसका मूल कारण यही है कि मनुष्य सर्वव्यापी दिव्य चेतना से अपने-आपको वियुक्त समझने लगा है। वह अपने-आपको असम्बद्ध इकाई मान बैठा है एवं उसने अहं से अपने को ही सब-कुछ मान लिया है। वह अपनी मौलिक सत्ता की अखण्ड पूर्णता को भूलने लगा है। अतः उसने उस आनन्ददायक भागवत चेतना के जीवन की ओर से अपनी आँखें मूँद ली हैं जो प्रत्येक का अंत-रिम भाग है, जो उसे अनेकता के द्वन्द्व से मुक्त कर एकता के आनन्द से भर देता है।

धर्म एवं दर्शन के समन्वयात्मक रूप को अपनाने वाले राधाकृष्णन यदि

ही आशावादी हैं। उनके अनुसार मानव विकास का द्वार सदैव खुला हुआ है। अब भी यदि मानव चेत जाए और दर्शन की सहायता ले तो उसका भविष्य सुनिश्चित है। अतीत और वर्तमान की स्पर्धाएँ चेतना के जीवन को कलुषित नहीं कर सकतीं। उसका सच्चा सखा दर्शन त्रस्त मानवता का मार्गदर्शी बनकर उसे उसके जीवन के विरोधों, संघर्षों और निराशाओं से मुक्त कर सकता है। इस अनुपम प्राचीन सखा को किसी चिन्तन या शुष्क विचारों का पर्यायवाची मानना उसका गला घोंट देना है। दर्शन जीवन है। दार्शनिक ज्ञान मात्र अध्ययन पठन-पाठन से प्राप्त नहीं होता है। इसके लिए आध्यात्मिक अनुभूति एवं समस्त जीवन का बोध आवश्यक है। वह जो जीवन-सत्य से साक्षात्कार कराता है उसे जीवन के हृदय स्पंदन से विच्छिन्न करना भयंकर भूल है। ऐसी मान्यता को अपनाने वाले राधाकृष्णन परिणामतः उस कट्टर विद्वान तथा शास्त्रीय दार्शनिक की भाँति नहीं हैं जो सत्तात्मक और ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी समस्याओं के विशिष्ट तार्किक विवेचन में उलझा रहता है। वे भली भाँति समझते हैं कि तर्क और बुद्धि अपने-आपमें अपर्याप्त हैं। दार्शनिक सत्य का बोध तार्किक रूप से प्रमाणित स्वयंसिद्ध तथ्यों के नियमन मात्र से प्राप्त नहीं हो सकता। दर्शन की उत्पत्ति सत्य के साक्षात्कार से होती है। दार्शनिक सत्य अनुभूति का विषय है न कि मात्र चिन्तन मनन और अध्ययन का। अथवा कोई भी जिज्ञासु दूसरे द्वारा अर्जित ज्ञान अनुभव अथवा साक्षात्कार के अध्ययन मात्र से सत्य को नहीं समझ सकता। साधकों के साक्षात्कारों का ऐतिहासिक अध्ययन बिना आत्मानुभूति के निष्फल है। वही सच्चे अर्थ में दार्शनिक है जिसका ज्ञान साधना से उद्भूत हुआ है। बिना सत्यानुभूति के सत्य के अन्दर नहीं पैठ सकते उसके अन्तरतम में प्रवेश नहीं पा सकते। राधाकृष्णन के अनुसार दार्शनिक ज्ञान व्यापक अनुभव का सूचक है। अनुभूति साधना चिन्तन-मनन निदिध्यासन अपने समन्वय रूप में दार्शनिक अन्तर्दृष्टि को जन्म देते हैं। इस अन्तर्दृष्टि की व्याख्या करते हुए वे अपने निबन्धों में कहते हैं कि मैंने जीवन के बारे

तत्त्व और उसके अर्थ का जो ज्ञान अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया है उसे ही दूसरों को प्रदान करने का प्रयास कर रहा हूँ। साथ ही व कहते हैं कि मेरे दर्शन की सामान्य स्थापना विश्व की वास्तविक व्याख्या करती है जो अपने-आपमें संगतिपूर्ण है ज्ञात तथ्यों के अनुरूप है और चेतना व जीवन का पोषक है।

वास्तव में राधाकृष्णन की दार्शनिक जिज्ञासा एवं सत्यान्वेषिणी बुद्धि ने उन्हें चेतना के धर्म कर्तव्य-मार्ग एवं जन-जगत की ओर मुड़ाया है। यह चेतना व्यक्ति-विशिष्ट की चेतना नहीं है किन्तु सार्वजनीन है यह कर्तव्य भय से उद्भूत नहीं है किन्तु सत्यात्मा का स्वभाव है यह जन-जगत भौतिक जगत मात्र नहीं है किन्तु आध्यात्मिक भी है। चेतना के धर्म को तुरन्त ही आत्मसात् कर सकता है अथवा वह जिसने संकीर्ण विचारों स्वार्थ-प्रवृत्तियों अहंकारी दृष्टिकोण परम्परागत विश्वास एवं रूढ़ियों से ओत हुए अन्धविश्वासों के आवरण को पूर्णतया त्याग दिया है। उनकी चेतना व जीवन की धारणा इस जगत् की सत्यता पर आधारित है। जिन हिन्दू विचारकों ने जगत् के यथार्थत्व को नहीं पहचाना और जिन्होंने जगत के मिथ्यात्व का प्रचार कर पलायन अकर्मण्यता तथा पराजयता की भावना को जन्म दिया और जो देश के राजनीतिक और सामाजिक पतन का कारण बने राधाकृष्णन उनके कटु आलोचक हैं। उनकी मान्यता है कि पलायनवाद अथवा विश्व की निस्सारता की धारणा मूलतः हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म ने अपने विशुद्ध रूप में सदैव महत् जीवन एवं चेतना के जीवन की स्थापना इसी पृथ्वी पर तथा जगत् पर करने का प्रयास किया है और इस जगत् को वास्तविक माना है। हिन्दू दर्शन चेतना के धर्म को एक आध्यात्मिक अनुशासन तथा जीवन दर्शन के रूप में मानता है। उसके लिए दर्शन बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए एक बौद्धिक व्यायाम मात्र नहीं है वह आध्यात्मिक पथ है जो मुक्तिदायक है। हिन्दुत्व सम्यक् विश्वास ही नहीं सम्यक् जीवन भी है। यह इस पृथ्वी पर दैविक विश्व की स्थापना के लिए सदाचारी जीवन

को अनिवार्य समझता है। हिन्दू धर्म का इतिहास साक्षी है कि भारत के उत्थान-युग में प्रतिभा-संपन्न धर्म प्रवर्तकों ने दर्शन की छत्रछाया में स्वयं वीतरागी बनकर, मानवता के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए शुभ सामाजिक संस्थाओं की स्थापना की और तदनुरूप प्रवचन दिये। हिन्दू धर्म ही क्यों विश्व में सर्वत्र सभ्यता के जागरण और विकास के क्रिया-शील युगों में दर्शन एक प्रधान बल रहा है। शक्तिशाली सम्राट् की भाँति उसने लोकमन पर शासन किया है। इतिहास बताता है कि जब संस्कृति और सभ्यता का आचरण अधोमुखी होने लगता है और परम्पराएँ शिथिल पड़ जाती हैं, धर्म अन्तर्तत्त्व शून्य एवं रूपात्मक हो जाता है, संशय कुतर्क विभ्रम रूपी कोहरा स्वप्रकाश रूप चेतना को आच्छादित कर देते हैं तब दर्शन ही मानव-जाति को वास्तविक आपदाओं से मुक्त करता है। वह पूर्ण हुए ध्येय के प्रति जागरूक होकर अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। वह मानवता का संरक्षक बनकर चेतना के मार्ग को प्रशस्त करता है। रूढ़िवादी निस्पन्द समाज को विकासोन्मुखी गतिशील जीवन का सन्देश देता है। दर्शन कट्टर, अपरिवर्तनशील ह्रासोन्मुखी मान्यताओं को नहीं अपना सकता। वह जीवनगति जीवनसत्य है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिवर्तनों के साथ इसमें भी परिवर्तन अभिव्यक्त होते हैं। स्वभावतः ही दर्शन वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसंधानों राजनीतिक क्रांतियों धार्मिक नैतिक परिवर्तनों सामाजिक अव्यवस्थाओं कलात्मक अभिव्यक्तियों एवं जीवन के किसी भी पक्ष की अवहेलना नहीं कर सकता। वह इन सबका अपने अन्दर समा-वेश करके ही आगे बढ़ सकता है। किसी भी स्वस्थ दार्शनिक चिन्तन की प्रामाणिकता वास्तविकता और मूल्य आँकने के लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या वह अत्युत्तम परिस्थितियों की चुनौतियों का सामना करने की क्षमता रखता है? क्या वह विरोधों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है?

राधाकृष्णन का कहना है कि दर्शन का कार्य अपने समय की चेतना का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना मात्र नहीं है वरन् उस चेतना की प्रगति में

सहायक भी होता है। उसका क्षेत्र सृजनात्मक है। मानवोचित मान्यताओं की व्याख्या करना, जीवन ध्येय का स्पष्टीकरण करना, जीवन दिशा को सुनिर्देशित करना तथा नवीन मानसिक मार्गों की ओर मानवता को प्रवृत्त कराना है। इसे उस विश्वास का प्रतिनिधित्व करना चाहिए जो विश्व के विकास तथा नवीन युग के लिए अनिवार्य है। आज दार्शनिक का कर्त्तव्य महान और उसका उत्तरदायित्व गुरुतर हो गया है। विश्व की वर्तमान संकट-स्थिति उसके आंतरिक विश्वास की कमी तथा नैतिक तत्त्वों के दौर्बल्य की सूचक है। जीवन अनेक जटिल विषमताओं और विकट कटुताओं से घिर गया है। आर्थिक सामाजिक वैज्ञानिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में महान् परिवर्तन घटित हो गया है। लोग संकटग्रस्त और त्रस्त हैं। सब कुछ धुँधला और अनिश्चित है। लगता है कि परिस्थितियों का विनाश जीवनध्वंस करके ही शान्त होगा। पर यह स्थिति दार्शनिक राधाकृष्णन को निराशा से नहीं भर देती। वह हताश होकर भाग्यवादी और पलायनवादी नहीं बन जाते हैं। वह एक सच्चे दार्शनिक की तरह समझाते हैं कि वर्तमान स्थिति चुनौती की स्थिति है। यह सच्चे दार्शनिकों के लोक-कर्मरत जीवन की आकांक्षी है। दार्शनिकों एवं युगद्रष्टाओं को यह एक नवीन सन्देश देती है। मानव-जाति की रक्षा के लिए दार्शनिकों को तत्पर होना है, उन्हें अपनी सुप्तावस्था तथा निष्क्रिय मनःस्थिति से जागना है। उन्हें मूलगत दार्शनिक सत्यों को वर्तमान पृष्ठभूमि पर बिठलाना है। शाश्वत सत्यों की पुनर्व्याख्या करनी है। राधाकृष्णन की दृष्टि में ऋषि-मुनियों के अनुभव, उनके सत्य साक्षात्कार का बोध अपने आपमें महान् है पर उनकी महानता को विश्वव्यापी कल्याणप्रद तथा समयानुकूल व्यावहारिक रूप देना आज के दार्शनिक का कर्त्तव्य है। दर्शन का बोध और चेतना यदि सार्वभौम नहीं है तो वह निरर्थक है। उसकी सार्वभौमिकता इस संघर्ष-युग के सन्दर्भ में अधिक वांछनीय हो गई है। संघर्ष ने विश्व-ऐक्य तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना की अनिवार्यता को सामने लाकर विश्वबंधुत्व की चेतना को

जन्म दे दिया है। हम, द्वैत तथा संघर्ष मानवता को क्रमशः उसके समस्तित्व की ओर से जा रहे हैं क्योंकि अस्तित्व की माँग एकता और प्रेम की माँग है। बिना विश्व-ऐक्य के न तो मानवता का अस्तित्व सम्भव है और न सामाजिक उन्नति ही। वे जो विश्व-जीवन से अपने को विमुक्त रखकर एकान्त ध्यान के शांत क्षणों में अपनी एकाकी आत्मा के सम्योग के इच्छुक हैं, वास्तव में भ्रम में हैं। यह अयथार्थिक प्रवृत्ति है। दर्शन का ध्येय वैयक्तिक नहीं सार्वभौमिक है। उसे विश्व-चेतना को पहचानकर नवीन जीवन-दर्शन के रूप में अभिव्यक्ति देनी है। मानवता की चेतना विश्व एकता की नींव पर खड़ी है, जो मानवों की सत्तात्मक एकता की द्योतक तथा समस्त मानवता के कल्याण की आकांक्षी है। दर्शन को मनुष्य-जाति का सम्बर्धन तथा संपोषण करना है ताकि नव्य जीवन और नव्य आदर्शों से ओतप्रोत व्यक्ति जन्म ले सकें। उसे उन मानवों के प्रादुर्भाव की ओर उन्मुख होना है जो राष्ट्रीय जातीय और धार्मिक भेदों को मानवता के आदर्श के सम्मुख भुला सकें तथा भेद-बुद्धि का अतिक्रमण कर उच्चादर्शों को अपना सकें। विश्व की विशेष परिस्थितियों के कारण आज दर्शन पर कठिन व्यापक और गहन दायित्व आ पड़ा है। उसे अधिक यथार्थ गम्भीर, जीवन्त और गतिमय होना है; अधिक आध्यात्मिक और नैतिक बल-सम्पन्न होना है ताकि वह अपनी विशालता कर्म परायणता प्रमुता और महानता से लोगों के हृदयों पर विजय प्राप्त कर उन्हें सहज ही वशीभूत कर सके तथा उन्हें आध्यात्मिक जगत् का नैतिक नागरिक होने का बोध करा सके और उन्हें अनुभव करा सके कि आध्यात्मिक जीवन ही मानव की अन्तिम परिणति है। साथ ही आध्यात्मिक जीवन मानव जीवन की अस्वीकृति में नहीं उसकी स्वीकृति एवं पूर्णता में है।

अध्याय २

विश्वदर्शन की अनिवार्यता

राधाकृष्णन की निश्चित धारणा है कि वही दर्शन जीवन्त और गतिशील है जिसमें जीवन को प्रगति देने की क्षमता है, जो जीवन को रहने योग्य बना सकता है। इस सन्दर्भ में जब वे पौर्व और पाश्चात्य दर्शनों का अध्ययन करते हैं तो उन्हें घोर निराशा होती है। आज विश्व उन्माद की स्थिति में है। स्त्री और पुरुष स्नायविक विकार से ग्रस्त हैं क्योंकि उनके पास कोई ऐसा निश्चित विचार या उद्देश्य नहीं है जो उन्हें सहारा दे और उच्च मानवीय मूल्यों के लिए जीवन समर्पित करने को प्रोत्साहित करे। पूर्व और पश्चिम एवं धर्म और विज्ञान अपने-अपने में संकुचित हो गए हैं। धर्म वे मनुष्य को स्वच्छ लक्ष्य की ओर ले जाने में असमर्थ हैं। उचित मार्ग निर्देशन के अभाव में मनुष्य के दुःखों की वृद्धि अनन्त हो गई है। वैज्ञानिक विचारों ने उसे पुरानी मान्यताओं से विमुख कर दिया है—उसकी आस्था डाँवाडोल हो गई है। कुछ भी स्पष्ट और निश्चित नहीं है। प्राचीन जर्जर प्रतीत होता है, भविष्य अन्धकारमय और वर्तमान सन्देह तथा कुण्ठा से ग्रस्त। उसे आज उस धर्म की आवश्यकता है जो ज्ञान और शान्ति दे सके न कि कोरी शक्ति और कल्पना। वास्तव में शक्ति और बहुलता एवं भौतिक ऐश्वर्यों की उद्दाम लालसा ने उसे धार्मिक और नैतिक अवस्था के गर्त में डुबा दिया है। वह अपनी चेतना को भी भूला है। वह विभ्रम में इतना भूल गया है कि वह स्वयं चेतना का मूर्तिमान् है। अतः निष्कर्षतः सार्वभौमिक विश्व-जागृति और सच्ची सर्वभौम चेतना ही मनुष्य को उसके वर्तमान संकट से मुक्त

कर सकती है। जब तक मनुष्य अन्दर से नहीं बदलेगा अथवा जब तक चेतना का चरम उसका भीतर से रूपान्तर कर उसे जीवन के लक्ष्य का ज्ञान नहीं कराएगा वह दुखी ही रहेगा।

मनुष्य जीवन को रूपान्तरित करने के लिए ही राधाकृष्णन विश्व दर्शन की अनिवार्यता घोषित करते हैं। उनका विश्व-दर्शन पूर्व और पश्चिम के पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय का प्रतीक है। राधाकृष्णन का कहना है कि पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में जो बाह्य विस्फोट हो रहा है उसी ने अव्यक्त रूप से उनके समन्वयात्मक दर्शन को जन्म दिया है। उनका विश्वास है कि मानव के भीतर नवीन विश्व चेतना जन्म ले चुकी है यद्यपि वह अभी अपनी भ्रूणावस्था में ही है। प्रबुद्ध मानव का धर्म है कि वह इस विश्व-चेतना को भली-भाँति समझकर उसे ग्रहण करे। अवश्य ही यह चेतना सह-जीवन सह-अस्तित्व सह सुख की धारणाओं द्वारा अपने को अस्फुट रूप से अभिव्यक्ति दे रही है। जीवन के विभिन्न स्तरों में इसकी यह अभिव्यक्ति सार्वजनिक है। यही हम ठीक से जीना सिखाएगी। यही वर्तमान संक्रांति-युग का आवश्यक सम्बल है। इसका सच्चा अर्थ समझना ही विश्व-दर्शन को अपनाना है। विश्व-दर्शन मानव जाति की सत्तात्मक सांस्कृतिक एकता का दर्शन है। बिना इसे आत्मसात् किये मानव अपनी वर्तमान अमानवीय स्थिति से ऊपर नहीं उठ सकता। वैज्ञानिक ध्वंसबुद्धि ने अपने आतंक द्वारा पृथ्वी पर एकता के बीजों का रोपण कर दिया है। सभी महान् विचारकों में मतैक्य है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के बीज-मंत्र इस विश्व-ऐक्य की भावना को अपनाए बिना विनष्ट तथा भस्मीभूत हो जाएगा। वर्तमान जीवन का घोर अभिशाप अथवा मनुष्य की इस अमानवीय स्थिति का मूल कारण द्वैत-बुद्धि है, उसकी विश्लेषणात्मक एकांगु बुद्धि है। इस अमानवीय स्थिति से मानव जाति को उबारने हेतु राधाकृष्णन विश्व-दर्शन का प्रवचन करते हैं। प्रवर्तन ही नहीं उसकी उपयोगिता व्यावहारिकता और आवश्यकता पर बल देते हैं।

और तभी हम जीवन को नवीन रुचि विश्व चैतन्य के रुचि में ढाल पाएँगे। मानव को जीवन की उस पद्धति को सिखा पाएँगे जो सर्वहितकारी होगी। राधाकृष्णन का कहना है कि यह संजीवनी तत्त्व सभी गम्भीर दर्शनों प्राचीन मध्ययुगीन और अर्वाचीन तथा पूर्वी और पश्चिमी विचार धाराओं में विद्यमान है। आवश्यकता है इसके प्रति मनुष्यों के सजग होने की एवं इसे पूर्णरूपेण अपनाने की। राधाकृष्णन का विश्वदर्शन इतिहास के वर्तमान और अतीत को धर्म और विज्ञान को एकता के सूत्र में बाँधता है। सभी दर्शन एक हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति अथवा बाहरी आकार प्रकार भिन्न हैं। राधाकृष्णन बाह्याचार से ग्रसित कृत्रिम धर्म तथा यमानवतावादी विज्ञान का विरोध करते हैं। मानव-बुद्धि और भावना के उस पक्ष के उन्नयन की आवश्यकता बतलाते हैं जो ध्वंसात्मक और कुत्सित है। मनुष्य को यदि ठीक से जीना है तो उसे क्षोटाइयों से ऊपर उठकर अपनी आध्यात्मिकता का विकास करना होगा। आध्यात्मिक मनुष्य ही विश्वदर्शन अथवा विश्वबन्धुत्व के आदर्श को सम्यक रीति से परिवर्तित कर सकता है, जनमानस का संवर्धन करके उसे विश्व मानवता के प्रति अनुप्राणित कर सकता है।

राधाकृष्णन पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण करके सिद्ध करते हैं कि दोनों ही सम्यक सत्य की दृष्टि से एकांगी हैं। पश्चिम यदि स्थूल यथार्थ को पकड़े है तो पूर्व यथार्थ से तटस्थ हो गया है। प्रगति के लिए दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। यथार्थ के स्वार्थमूलक भौतिकवाद ने पाश्चात्य देशों को द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता की अग्नि में झुलसा दिया है। पूर्वी चेतना रूढ़िग्रस्त होकर निष्क्रिय परलोकवादी और भाग्यवादी हो गई है। दोनों की ही सामाजिक धार्मिक राजनीतिक सांस्कृतिक स्थितियों का विहंगावलोकन सर्वत्र कुंठा अनिश्चितता वर्बरता तथा स्वार्थपरता के दर्शन कराता है और विश्वव्यापी असन्तोष निराशा तथा व्यग्रता का आभास देता है।

विज्ञान की प्रगति ने औद्योगिक सभ्यता को जन्म दिया है और

औद्योगिक सभ्यता ने आधिभौतिक सुखों की वृद्धि की है। पर मनुष्य का मन? क्या वह भी विकसित और सुखी हो सका है? नहीं। मानव-मन विपन्न है। सर्वत्र घना निराशा नास्तिकता और घोर अवसाद छाया हुआ है। आज का मनुष्य जीवन के प्रति सहज आकर्षण अनुभव नहीं करता। उसमें जीवित रहने की कोई प्रेरणा नहीं है। वह जीता है क्योंकि जीवन के पाट उसे दबाए हुए हैं; वह रोता है क्योंकि उसे जीवन निरुद्देश्य और निरर्थक लगता है। औद्योगिक सभ्यता अपनी वैज्ञानिक भौतिक प्रगति के अतिरिक्त व्यापक असन्तोष से कराह रही है। विश्व की वर्तमान स्थिति देखकर प्रतीत होता है कि दर्शन कर्तव्यच्युत हो गया है उसमें जीवन-विकास को प्रेरणा देने की क्षमता नहीं है। तो क्या मानव-जाति अपनी ही कुंठा से नष्ट हो जाएगी? क्या निराशा अनास्था शक्ति का मद धन की तृष्णा आदि उसकी जीवन-बेल को समूल नाश करके ही शान्त होंगे? क्या मानवता को व्यापक असन्तोष के शासन से मुक्त कर उसे स्वस्थ जीवन की ओर ले जाने में दर्शन आज असमर्थ है? राधाकृष्णन दर्शन को सक्षम मानते हैं। उनका कहना है कि अपने विनाश की ओर अग्रसर होती हुई मानव-जाति को यदि कोई बचा सकता है तो वह दर्शन ही है। दर्शन में धर्म-दर्शन की क्षमता तथा जीवन को दिव्योन्मुखी सुन्दर और सुखद बनाने की शक्ति है। जिस सीमा एकांगिता पंगुता और अवास्तविकता से दर्शन को लांछित किया जाता है वह वास्तव में दर्शन में नहीं है मानव-मन में है। मन की परिधियाँ और सीमाएँ हैं। अपनी इन सीमाओं को वह उस शीर्षस्थ सत्य पर आरोपित कर देता है जो सर्वव्यापी असीम पूर्ण सक्षम और वास्तविक है। मनुष्य अपनी अतीन्द्रिक और स्वभावजन्य संकीर्णता से ऊपर उठकर जब जीवन सत्य को समझने का प्रयास करेगा तब उसे दर्शन के यथार्थ मूल्य और उपयोगिता का ज्ञान होगा। दर्शन सत्य है। सत्य एक है सर्वव्यापी और अगम है। किन्तु वही सत्य जब मानव के अविवेक के कारण देश काल और जाति के अवगुण्ठन में पड़ जाता है तब धर्म-दर्शन की शक्ति खो बैठता

है। ऐसी स्थिति में दर्शन एकांगिता एवं संस्कृतियों तथा शुष्क सिद्धान्तों का पर्यायवाची बन जाता है। विभाजन-बुद्धि के कारागार में पड़ा हुआ सत्य एवं विश्व-चेतना मिथ्यात्व है; यह जीवन-सत्य को अभिव्यक्ति देने में तथा जीवन को सुन्दर और सुखद बनाने में असमर्थ है।

दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता आंकने के लिए राधाकृष्णन ने पौर्व और पाश्चात्य दर्शनों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया। प्राचीन काल से आधुनिक युग तक के दर्शन के विकास और ह्रास की विविध स्थितियों का निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षण उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। विच्छिन्नता उनके आगामी विनाश की सूचक है। जीवन सत्य से विमुक्त होकर वे दोनों ही अपने-आपमें सीमित एकांगी और अनुपयोगी हो गए हैं। उनका समन्वय ही उनकी पूर्णता है। अथवा विश्व में स्थूल रूप से जो दो संस्कृतियाँ प्रवृत्तियाँ या दर्शन हैं वे अपनी समग्रता में एक-दूसरे के पूरक हैं। उनका सम्यक् रूप ही विश्वदर्शन है।

समस्त मानवता एक व्यक्ति के समान है जिसके पूर्व और पश्चिम अविभाज्य अंग हैं। मानवता का विकास उसके अंगों के समान्तर विकास के साथ उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध एवं अधिकाधिक पारस्परिक निर्भरता और ऐक्य की अपेक्षा रखता है। पूर्व और पश्चिम के दर्शनों को एक-दूसरे का विरोधी सोचना मानव-विनाश को अपनाना है। मानव चेतना का सत्य बतलाता है कि धर्म और विज्ञान-पौर्व और पाश्चात्य दर्शन एकता के सूत्र में गूँथकर ही मानव-कल्याण की स्थापना कर सकते हैं। यह मानवता का दुर्भाग्य ही है कि पृथ्वी के पूर्व और पश्चिम के बाह्य भौगोलिक विभाजन ने उसकी सांस्कृतिक और आंतरिक मानवीय एकता में घृणा और द्वेष के विष को घोल दिया है। उस पर जाति-भेद के सिद्धान्तों और धर्म-प्रचारकों की धर्मांधता ने उसकी चेतना को बिलकुल ही सुप्त कर दिया है। उन्होंने मानव-समाज के निर्माण में दुर्लंघ्य रोड़े खड़े कर दिए गए हैं। संवेदनशील प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए जीवन का यह

भेद-भावयुक्त रूप प्रकट हो गया है। आज पुनः आवश्यकता है कि हम अपनी सुप्त चेतना को जगाएँ और सद्बुद्धि से काम लें। सभी मानव पहले मानव हैं, तत्पश्चात् कुछ और। सभी मनुष्य बुद्धिजीवी और संवेदनशील हैं। सभी की रुचियों और इच्छाओं में मानवीय समानता मिलती है। विज्ञान भी यह सिद्ध कर चुका है कि शारीरिक व्यक्तित्व चाहे किसी मनुष्य का कैसा भी हो वह चाहे मोटा नाटा काला गोरा पीला या दुबला हो किन्तु जहाँ तक मनुष्यों के मानसों के निर्माणात्मक मूल तत्त्वों का प्रश्न है वे सब समान हैं। विभिन्न संस्कृतियाँ आत्मा की एक ही वाणी की विभिन्न भाषाएँ हैं। जो भेद मनुष्यों में दीखता है वह ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा विकास की कोटियों के कारण है वास्तविक या मूलगत नहीं है। इन बाह्यारोपित, जातिगत और राष्ट्रगत अज्ञानपोषित भेदों को दूर करने के लिए विश्व की मौलिक एकता को पहचानना होगा। राधाकृष्णन का विश्वास है कि एक विश्व एक मानव-राष्ट्र अथवा एक मानव-समाज की स्थापना हो सकती है। चिंतन के आदि काल से ही मनीषियों को यह भासित होता आ रहा है कि विविधता के मूल में एकता अवश्य है। इस एकता को दिव्य अनुभव और विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है। ऐसी अनेक आध्यात्मिक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक मान्यताएँ हैं जिन पर नवीन विश्व-विधान का निर्माण हो सकता है—उस विधान का जिसके स्त्री-पुरुष विश्व-बोध से पोषित हों। मानव-एकता उद्गम और लक्ष्य की एकता है विश्व-चैतन्य की एकता है। सभी मनुष्य चेतना हैं सभी को चेतना का जीवन जीना है उसकी पूर्णता प्राप्त करनी है। मानवों को समझने के लिए उनके आन्तरत्व को समझना चाहिए, न कि स्थूल विभाजनों को। कौन कहाँ उत्पन्न हुआ वह किन माँ-बाप की सन्तान है उसकी वर्ण-जाति क्या है, सांपत्तिक और सामाजिक स्थिति क्या है? ये सब निरर्थक प्रश्न हैं जिन्होंने वस्तुतः मनुष्य को उन्मादग्रस्त कर दिया है और उसे किंचित् शान्ति या सन्तोष नहीं दिया है। परिणामस्वरूप मानव मानव का भक्षक और सहयोगी

होने के विपरीत एक-दूसरे का परम विरोधी हो गया है। यह मानव सभ्यता की प्रगति में सहायक होने के बदले सर्वविनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कारों प्रलयंकारी कुत्सित सिद्धान्तों को जन्म देना अपना गौरव समझ रहा है। मानवता विनाश की ओर द्रुत गति से बढ़ रही है। राधाकृष्णन की अटल मान्यता है कि इस प्रस्तुत संकट से यदि मानवता को कोई बचा सकता है तो वह विशुद्ध सार्वभौम चेतना एवं विशुद्ध सार्वभौम संस्कृति है—वह संस्कृति जो विश्व-कुटुम्ब की धारणा को मूर्तिमान कर दे।

पूर्वी दर्शन धर्म का द्योतक है और पश्चिमी विज्ञान का। विज्ञान और धर्म जीवन के दो आधार-स्तम्भ हैं। यदि विज्ञान की समुचित उन्नति दैहिक-भौतिक प्रगति के लिए आवश्यक है तो धर्म की उन्नति आंतरिक समृद्धि और शान्ति के लिए। धर्म और विज्ञान दोनों का ही वर्तमान स्वरूप रोगग्रस्त है। ये पारस्परिक विरोध के कारण लक्ष्यच्युत हो गए हैं। मानव-कल्याण के लिए संयुक्त कर्म करने के बदले वे एक-दूसरे को नीचा दिखाने तथा एक-दूसरे को निगल लेने में व्यस्त हैं। विज्ञान और धर्म को एक-दूसरे का पूरक बनना होगा एवं पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के निकट आना होगा। पूर्व और पश्चिम का ऐक्य धर्म और विज्ञान की सहकारिता एवं मानव-कल्याण का बोध व्यक्ति विशेष की थाती नहीं है, यह समस्त मानवता की निधि है। मानव-कल्याण ही मानव-धर्म एवं विश्वदर्शन है।

पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का सत्यान्वेषण उनकी प्रखर दृष्टि को प्रमाणित करता है। उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि पूर्व के दर्शन को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है और पश्चिम को सत्य की चेतना से युक्त करने की।

पाश्चात्य दर्शन जीवन-सत्य एवं सत्य चेतना से संयुक्त होने के बदले आज विज्ञान पर आश्रित है। वैज्ञानिक चमत्कार बुद्धि और मनीषा के चरमोत्कर्ष को प्रतिबिम्बित अवश्य करते हैं, पर जीवन इससे नहीं अधिक

और अभ्यास करना तथा बाह्याडम्बरों का एवं अन्तर्तत्त्वशून्य अनित रूढ़ि रीतियों का पालन करना धर्म नहीं है। जाति वर्ण और राष्ट्र-भेद भेद बुद्धि एवं मानव-अहं की उपज हैं। धर्म इनको स्वीकार नहीं करता। वह मानव एकता का सूचक है उसकी सत्तात्मक एकता का प्रतिबिम्ब है। धार्मिक चेतना से दीप्त बुद्धि मानव मानव में भेद नहीं मानती। सभी अस्तित्व की दृष्टि से समान हैं एक ही तत्त्व के स्फुरित हैं। भेद बाहरी एवं स्थूल हैं। धार्मिक चेतना सभी मतों धर्मों और सिद्धान्तों का आदर करती है। सभी धर्मों के मूलगत सत्य को एक मानती है। वह मंगलमय और आनन्दमय है। धार्मिक आचरण इस अमर विश्वास पर आधीन है कि सभी व्यक्ति दिव्य हैं। सभी आत्मा हैं। सभी को चेतना के जीवन को सक्रिय रूप से अपनाना है। प्रचलित धर्म अवैज्ञानिक असामाजिक अनैतिक और अधार्मिक है। इसके अनुयायी अविश्वास कुतर्क कुकर्म अत्याचार, चमत्कारवाद जादू-टोने और पाप के पंक में सने हुए हैं। वे धर्म के नाम पर अनैतिक आचरण निष्क्रियता आलस्य और उन्माद को अपनाये हुए हैं। ऐसे अपक्व तामसी दुष्ट-बुद्धि व्यक्ति धर्म के नाम पर अनाचार करते हैं। उनके विचार या तो स्वार्थजन्य होते हैं या उनमें हुए। उनका मन अंधकारमय और अस्थिर है। मूल्यों की पूजा में सदियों के अंतराल से धूल जम गई है। ऐसे अधार्मिक धर्म से मानवों को उबारने के लिए कठिन परिश्रम करना होगा। संस्थाओं और रिवाजों के बाह्य रूपों में परिवर्तन करने मात्र से कुछ लाभ नहीं। स्वस्थ शिक्षा उचित वातावरण द्वारा मानवों को अन्दर से बदलना होगा। उनकी इच्छाओं का रूपान्तर अथवा प्रवृत्तियों का दिव्यीकरण करना होगा। मन परिवर्तन अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है। उसे आचरण और शील में उतरना होगा। विश्व-कल्याण उस धर्म की स्थापना का आकांक्षी है जो मनुष्य को अपने भीतर संयोजित कर उसके भीतरी संतुलन के साथ ही उस समाज प्रकृति सजातीयता तथा उस शाश्वत चैतन्य के साथ संतुलित करने की सम्भावना और अनिवार्यता रखता हो जो दृश्यमान जगत् द्वारा

व्यस्त हो रहा है।

आज सम्पूर्ण मानव-जीवन कुण्ठाओं से घिरा हुआ है। प्रतियोग प्रतिद्वन्द्विता अविश्वास सन्देह घृणा और द्वेष की नारकीय भावनाओं ने जीवन को असह्य बना दिया है। प्राचीन मान्यताओं से मनुष्य का विश्वास उठ गया है। आज मानव-मूल्य विघटित हो रहे हैं। उसका ध्येय धूमिल हो उठा है। उसका भविष्य अनिश्चित है। छोटे-छोटे ज्ञान की रश्मियाँ सर्वत्र हैं पर उसकी स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगत नहीं हो रही है। आस्था से अनास्था विश्वास से अविश्वास प्रेम से घृणा एकता से विरोध को जन्म दिया है। ये अधिकारस्थ दानव मानवता के विनाश के लिए अट्टहास कर उसके जीवन की सुख-शांति को रौंदने के लिए प्रयत्नशील हैं। उन्होंने मनुष्य के जीवन और चिन्तन में असाम्य विचारों में असंगति निर्णयों में अनिश्चितता तथा कर्मों में अवसाद पैदा कर दिया है। यही कारण है कि मनुष्य का कदम लड़खड़ा उठा है और उसका भविष्य आशंकित हो उठा है। लगता है आत्मविनाश ही मानव-जाति की स्वाभाविक परिणति है।

राधाकृष्णन को निराशा के बादलों में आशा की किरणें फूटती दीखती हैं। वे वर्तमान स्थिति का भविष्य अवसादपूर्ण नहीं मानते। प्रबुद्ध मानव अपने भाग्य का विधाता है। उसका विनाश अनिवार्य और निश्चित नहीं है। उन्हें मानवता की इस विनाशोन्मुखी स्थिति में नवीन सभ्यता आध्यात्मिक संस्कृति के बीज विद्यमान दीखते हैं। उनका कहना है कि अभी पर्याप्त समय है और मानव अपने विनाश से बच सकता है। वह अवसाद के क्षणों को सत्य की चुनौती दे सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब वह दर्शन का आश्रय लेकर उसके वास्तविक अर्थ को समझे। यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि दर्शन अस्तव्यस्त हो गया है या अव्यावहारिक और अव्यक्त होने के कारण उसमें जीवन-विकास की प्रेरणा देने की क्षमता नहीं रह गई है। मानव जीवन के संक्रान्ति-काल से ग्रस्त होने का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य ने दर्शन की उपेक्षा की है।

परिणामस्वरूप मानव-जाति उसके शक्तिशाली मार्ग-दर्शन के प्रभाव में अपनी ही कुठाग्नि में जल रही है। बर्बरता अमानवता शक्ति का नग्न उसके जीवन का मनन कर रहे हैं। निराश्रित मूल्यविहीन लक्ष्यहीन एवं दर्शन-विमुख मानव-जाति की एकमात्र गति मृत्यु प्रतीत होती है। राधाकृष्णन का कहना है कि मनुष्य का अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। वह यदि चाहे तो अपनी सत्य चेतना को जाग्रत करके अपनी वर्तमान स्थिति का सुधार कर सकता है जीवन का उन्नयन कर भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है। प्रबुद्ध मानव शक्तिशाली आस्था भी है। आत्मा के सत्य पर आसीन होकर ध्वंसकारी प्रवृत्तियों का आमूल विनाश कर सकता है। उसे वर्तमान के सार्वदेशिक अंधकार को सत्य की ज्योति से दूर कर शाश्वत सत्य को भाव की पृष्ठभूमि में समझना चाहिए। वे सत्यद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा की भांति चेतावनी देते हुए कहते हैं कि यदि मानव-जाति बढ़ती हुई अव्यवस्था और अनाचार से मुक्त होना चाहती है एवं अपने विनाश से बचना चाहती है तो उसे अविवेक अनैतिकता अधर्म तथा कुबुद्धि के पाप-कोषों को उतार फेंकना चाहिए। उसे उस व्यापक सत्य का वरण करना चाहिए जिसमें सभी सत्यों का समावेश है। उसे विभिन्न सिद्धान्तों में निहित धार्मिक सत्यों को इस सर्वस्थित सत्य की कसौटी पर निखारकर उस चेतना को पहचानना होगा जो सर्वान्तरात्मा है। चेतनामूलक ज्ञान उस विश्व दर्शन का आह्वान करेगा जो नव-जीवन का संचारक है। राधाकृष्णन आशान्वित हैं। वे कहते हैं कि वर्तमान संघर्ष निराशा अमानवता और कुंठा ने वास्तव में यह व्यक्त कर दिया है कि चेतना के जीवन को भूलकर व्यक्ति जी नहीं सकता है। विश्व चेतना से विमुख हो जाने के कारण ही मानव मानव नहीं रह गया है। चेतना का जीवन ही मानवता का जीवन है। यह मानव-जाति के उस आचरण का प्रतीक है जो मगलमय विश्व का विधान है।

चेतना के जीवन को ही राधाकृष्णन सर्वोच्च वांछनीय ध्येय मानते

है। इस वांछनीय ध्येय को आत्मसात् न कर सकने के कारण धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी तो हो ही गए हैं साथ ही अपना कर्तव्य निभाने में भी असमर्थ हो गए हैं। मनुष्य मनुष्य का विरोधी हो गया है। वह एक-दूसरे को शत्रुवत् समझता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के प्रति शंकालु है। मनुष्य भूल गया है कि उसके जीवन का कुछ अर्थ है। उसके कर्म प्रबुद्ध और दायित्वपूर्ण होने चाहिए। आज का व्यक्ति भ्रांतबुद्धि हो गया है, उसके अन्दर का मनुष्यत्व नरभक्षक बन गया है। अपनी सुख-सुविधा स्वार्थ तथा अहंकार के मोह में पड़ा मनुष्य भूल गया है कि उसे कैसे जीना चाहिए—सम्यक् जीवन क्या है? मनुष्यत्व का क्या अर्थ है? विज्ञान की अपार शक्ति ने उसे दंभी और विनाशी बना दिया है। वह प्रकृति पर शासन करने के लिए लालायित हो उठा है। वह दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने के लिए उत्कंठित है। अधिक क्या! भौतिक विज्ञान ने उसे मंत्रमुग्ध कर दिया है—वह अपनी चेतना को ही भूल गया है। भौतिक सुख-सुविधा से संतुष्ट होकर अपने आध्यात्मिक विकास एवं मानव जाति के कल्याण की ओर अग्रसर होने के बदले वह अणु-विनाश और उद्जन प्रलय का आवाहन करने में व्यस्त है। दूसरी ओर धर्म निष्क्रिय और संकीर्ण हो गया है। वह सत्यरहित निर्जीव आचारों एवं वाह्याडम्बरों का पर्यायवाची तथा भेद-बुद्धि का जनक बन गया है। राधाकृष्णन का धर्म से अभिप्राय उस धर्म से है जो आध्यात्मिक बौद्धिक और सामाजिक है। उनके अनुसार धर्म ही दर्शन है दर्शन ही धर्म है। यह धर्म मानव चेतना का प्रतीक है। यह चेतना सभी प्राणियों का सर्वव्यापी आन्तरिक तत्त्व है। यह सच है जहाँ तक व्यक्तियों के मानसिक-शारीरिक स्वरूप का प्रश्न है वे समान नहीं हैं। किन्तु यदि भिन्नता के इन बाह्य कोषों को हटा दें तो अपने अनावृत रूप में सभी समान हैं चैतन्य-स्वरूप हैं। मनुष्य का सारभूत गुण चेतना की गहराइयों में निहित है। प्रत्येक एक स्वतंत्र चेतना है। अपनी आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए एवं सत्य के स्वरूप को पहचानने के लिए सभी समान रूप से स्वतंत्र हैं। आत्मा का जीवन

अन्य आत्माओं के जीवन का आदर करता है। यह सबको अपनी पूर्णता प्राप्त करने का नैसर्गिक अधिकार देता है। आत्मा का यह धर्म बताता है कि आत्मा का आत्मा से धर्म का धर्म से राष्ट्र का राष्ट्र से विरोध नहीं है। कोई किसी का शत्रु नहीं है। सभी समान हैं, चैतन्य स्वरूप एवं स्वतंत्र हैं। मानव-जाति को चैतन्य-स्वरूप देखना उसमें आत्मा के एकत्व को पाना अपवर्गप्रद होना है भगवान् का हो जाना है।

प्रबुद्ध मानव-जीवन ही चेतना का जीवन है। चेतना की शून्यता मनुष्य के अन्तःसत्य का अपमान करना है। आज की निरन्तर बढ़ती हुई अव्यवस्था अंधकार और हाहाकार के मूल में चेतना का ही अभाव है। चेतना का बोध उस समाज या विधान की अपेक्षा रखता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक पूर्ण और स्वतन्त्र आत्मा के अधिकार का भोक्ता है। परम्परा अंधविश्वास अविवेक शक्ति की महत्त्वाकांक्षा और वैज्ञानिक चमत्कारों के प्रवाह में बहने वाले मानवों की दृष्टि सीमित कुटिल एवं अन्धी है। मनुष्य के समक्ष आज एक ही लक्ष्य है—भौतिक और दैहिक सुख-सुविधा। पर विधि की विडम्बना यह है कि भोग-विलास और सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि के साथ वह अपने आंतरिक साम्य को खोता जा रहा है। उसका स्वार्थ और दम्भ बढ़ी की आत्मिक शांति का शत्रु हो गया है। व्यक्ति व्यक्ति को धूल में मिलाना चाहता है राष्ट्र राष्ट्र का अपमान करने का अवसर खोज रहा है। राधाकृष्णन इस व्यक्तिनिष्ठ तथा राष्ट्रनिष्ठ संकीर्ण चेतना के रूपान्तर के आकांक्षी हैं। वे विश्वव्यापी आध्यात्मिक चेतना के संदेशवाहक हैं। चेतना सार्वभौम आंतरिक सत्य है। दूसरे की चेतना की अवहेलना अपनी ही चेतना की अवहेलना है। सभी में समान रूप से चेतना का जीवन प्रवाहित हो रहा है। प्रत्येक का जीवन स्वतः मूल्यवान है। प्रत्येक को चेतना का जीवन बिताने का स्वाभाविक अधिकार है। वह व्यक्ति जो चेतना का जीवन स्वयं बिताता है, अपना अपनी आत्मा की परिपूर्णता को प्राप्त करना चाहता है दूसरे को भी इस जीवन का अधिकारी मानता है। यह इसे अपना जन्मसिद्ध दायित्व

मानता है कि वह अपने साथ ही दूसरों को भी चेतना के जीवन की ओर प्रेरित करे।

राधाकृष्णन के दर्शन का संकेत व्यावहारिक है। वे उन मानव-मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं जो सक्रिय हैं। अतः चेतना का जीवन काल्पनिक या अमूर्त नहीं है, वह अव्यावहारिक तथा अयथार्थ नहीं है। उसकी समस्याओं को तर्कशास्त्र ज्ञानमीमांसा या रेखागणित की समस्याओं की भाँति जीवन-सत्य से विच्छिन्न कर किसी एकान्त सुख-सम्पन्न कक्ष की दीवारों के अन्दर बैठकर नहीं सुलझाया जा सकता। दर्शन का सम्बन्ध विश्व जीवन से है उसका कार्य सम्पूर्ण आत्मा को सन्तोष देना है न कि मात्र बौद्धिक जिज्ञासा का समाधान करना। उसका उद्देश्य मानव-जीवन को समझना तथा उसका धर्म मानवता का दिव्यीकरण करना है। राधाकृष्णन के अनुसार दर्शन जीवन का वह मूलभूत सत्य है जो बुद्धि को ज्योतित करता है जीवन को सक्रियता और हृदय को आह्लाद प्रदान करता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध ही आत्मानन्द है और आत्मानन्द मानव-एकता का बोध है। यह आत्मबोध मानव-कल्याण का इच्छुक है। यह उन मान्यताओं की भावात्मक स्वीकृति है जो मानव-संस्कृति के विकास में सहायक हैं। मानव-कल्याण के लिए राधाकृष्णन विश्वदर्शन की स्थापना और विकास को अनिवार्य मानते हैं। साथ ही उनका विश्वास है कि विश्व-दर्शन एवं विश्व-धर्म के बीज मानव भूमि में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। अब यह मनुष्य पर है कि उन्हें पहचाने उनका स्वागत करे तथा उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करे। सभी प्राणियों में तात्त्विक और जैवी समानता है। उनकी शारीरिक और दैहिक भूख समान है। उनमें जो अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं वे सब एक ही मानव चेतना एवं विश्व-चेतना के स्फुलिंग हैं। मात्र भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्यों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकतीं। मनुष्यों की एकता का ज्ञान ही मानववाद है। मानववाद विभाजन-बुद्धि को हेय मानता है। वह समस्त मानवता के कल्याण का अभिलाषी है। राधाकृष्णन का कहना

है कि अब वह समय आ गया है कि मानवता के भावात्मक सक्रिय संबल के लिए विश्व-दर्शन का आह्वान ही नहीं किया जाए, उसे पूर्णरूपेण जीवन में कार्यान्वित करने का सम्यक प्रयास भी किया जाए। ऐसे आदर्शों, मान्यताओं और संस्थाओं को स्थापित किया जाए जो व्यक्ति, राष्ट्र या किसी समुदाय-विशेष की न होकर समस्त विश्व के व्यक्तियों की थाती हों। ऐसी संस्थाओं का प्रयोजन मात्र भौतिक सुख-समृद्धि न होकर मानव को मानवता का अर्थ समझाना हो। उसे वांछनीय जीवन से अवगत कराना हो जिससे वह स्वस्थ रूप से कल्याणप्रद जीवन व्यतीत करना सीख सके मानव के भीतर विश्वात्मा के प्रस्फुटित होते हुए सौंदर्य को निहार सके।

मनुष्य ही मनुष्य का त्राता और संरक्षक है। मनुष्य का पतन इसलिए हो गया है कि वह अपनी आत्मा को भूलकर चेतना के सत्य से विमुक्त हो गया है। वह आत्मविहीन और संबलविहीन होकर चेतना के वास्तविक धरातल से स्खलित हो गया है। विस्थापित मानव की बुद्धि को निराशाओं और आशंकाओं के कोहरे ने धूमिल कर दिया है। उसकी गति त्रिशंकु की-सी हो गई है। वह उस जीवन के अर्थ और लक्ष्य से च्युत हो गया है जो उसका अंतःसत्य है। शाश्वत सनातन सत्य के नाम पर उसने बाह्याचार, रूढ़ि-रीति अविवेक और अनाचार को ओढ़ लिया है। वह सत्य के आन्तरिक तत्त्व और सार रूप को समझने में असमर्थ है। यदि मानव को जीवन में पुनः स्थापित होना है तो उसे धर्म के आन्तरिक सत्य को समझना होगा। विश्व-चेतना और वैज्ञानिक ज्ञान के संदर्भ में उसकी पुनर्व्याख्या करनी होगी। पौराणिक कथा-कहानियों, वैदिक आदेशों उपनिषदा के सूत्रमंत्रों को बोधगम्य भाषा और सरल शैली में प्रस्तुत करना होगा। तब इस पृष्ठभूमि पर उपासना होगा जिसकी मनुष्य को आवश्यकता है। यदि शाश्वत सत्य वर्तमान युग-चेतना का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता जीवन को शिव और सुन्दर नहीं बना सकता तो वह मृतजल है।

राधाकृष्णन का चेतना का दर्शन विश्वदर्शन है और विश्वदर्शन

मानव-दर्शन है, मानव-कल्याण का दर्शन है। मानव-दर्शन की श्रेष्ठता यह है कि वह सनातन एवं शाश्वत सत्य को सक्रिय मानव-मूल्यों का रूप देना स्वधर्म मानता है। दर्शन जीवन का सत्य है। दार्शनिक वह है जो जीवन के अन्दर पैठकर जीवन का अध्ययन करता है न कि एक वैज्ञानिक की भाँति बाहरी विश्लेषण। जीवन का आभ्यंतरिक अध्ययन आध्यात्मिक मूल्यों को मानव-मूल्य के समरूप पाता है। मानवता से रिक्त अध्यात्म अर्थशून्य है उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। मूल्यों का ऐसा बोध उस विचार, कर्म भावना प्रणाली या सिद्धान्त को हेय और त्याज्य बतलाता है जो व्यावहारिक गुत्थियों को सुलझाने तथा जीवन को रहने योग्य बनाने में असमर्थ है।

मनुष्य का कल्याण चेतना के जीवन में है। यदि वह मानवता मानव सभ्यता मानव-जीवन को उसके द्रुत गति से होते हुए ह्रास से बचाना चाहता है तो उसे चेतना के मूल्यों को मानव-जीवन के क्षितिज पर प्रस्फुटित करना होगा। उस नवीन सभ्यता एवं आध्यात्मिक संस्कृति का निर्माण करना होगा जिसके निर्माणात्मक तत्व वर्तमान में बिखरे पड़े हैं और जिसकी नींव आवश्यक है। उसे इन तत्वों को संयोजित कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना एवं सर्वांगीण चेतना की समग्रता में देखना होगा जिससे वे संयुक्त होकर अग्रगामी बन सकें और दैव्य विकास की ओर अग्रसर हो सकें। आध्यात्मिक मानव-मूल्यों के प्रति मानव-जाति का जीवंत श्रम और अदम्य आस्था ही विश्व को उसके वर्तमान रोगों से मुक्त कर सकेगी। आज के समानुपोत युग में मनुष्य को अति मानवीय होना है। उसे अन्दर से बदलकर आत्मज्ञान प्राप्त करना है। मनुष्य का जीवन जब आध्यात्मिक चेतना में रूपान्तरित हो जाएगा आन्तरिक रूप से शुद्ध पवित्र और दिव्य हो जाएगा तभी विश्व का रूप बदलेगा। आन्तरिक सुविधा ही बाह्य सुविधा को जन्म देगी। मानव-जीवन आध्यात्मिक सामंजस्य की एकता में बँधकर महत्तर, श्रेष्ठतर, सुन्दरतर और दिव्यतर हो जाएगा। यथाहम्युम का कहना है कि विश्वदर्शन ही

आन्तरिक बाह्य एवं व्यष्टि और विश्व के ऐक्य की चेतना को जाग्रत कर सकता है। विश्वदर्शन का यह धर्म है कि विश्व में जो मूलगत आध्यात्मिक संचरण व्याप्त है उसके प्रति वह मानवों को सचेत करे ताकि वे तदनुरूप कर्म करने लगें। विश्व और मानवों के जीवन का रूपान्तर एवं दिव्यीकरण प्राज के युग की महत् आवश्यकता है और यह विश्वदर्शन द्वारा ही सम्भव है। वर्तमान स्थिति के अर्द्ध-सत्य विज्ञान और धर्म की एकांगिता एवं जीवन की मृतप्राय अवस्था हमें सहज ही विश्व दर्शन की ओर आकर्षित करती है। विश्वदर्शन मूर्त एकता का दर्शन है। यह विश्व जीवन की एकता के लिए, शान्ति और कल्याण की प्राप्ति के लिए मानव-हृदयों को स्नेह-सूत्र में गूँथ देता है। प्राचीन काल से ही सभ्यता के यशस्वी प्रतिनिधियों और ऋषियों ने समान रूप से एक विश्व के स्वप्न संजोए हैं यद्यपि वे उस स्वप्न को मूर्तिमान रूप नहीं दे पाए। आज इस स्वप्न को वास्तविकता देने की समस्या अत्यंत अथवा अत्यावश्यक हो गई है क्योंकि हम आज के प्राणविक शक्ति के युग में विश्व-ध्वंस के अस्त्र-शस्त्रों एवं आयुधों का निर्माण कर रहे हैं। किसी भी आणविक युद्ध का परिणाम भयंकर तथा विश्वघातक हो सकता है। हमें अपने को विनष्ट करने या एक ही परिवार के सदस्य के रूप में जीने-इन दो वत्मान्तरों में से एक को चुनना है। वर्तमान स्थिति ध्वंस और चरम संघर्ष की है, यह निर्विवाद है। मानवता को ध्वंस से बचाने के लिए एवं विश्व जीवन को ह्रासोन्मुखी और ध्वंसोन्मुखी प्रवृत्तियों से मुक्त करने के लिए विश्व-ऐक्य विश्व-मैत्री अथवा विश्वबन्धुत्व के आदर्श को मूर्तिमान करना ही होगा। इस जीवन को अस्तित्व प्रदान करने की क्षमता राधाकृष्णन के अनुसार मात्र विश्वदर्शन में ही है। विश्वदर्शन का सक्रिय सहयोग ही उस हठ्ठा और मत्सर को जन्म देता है जो मतान्धता इव तानाशाही एकांगिता स्वजन-पक्षपात स्वार्थ लालोलुपता निर्मिकता और कट्टरवादिता से मनुष्य को विमुख कर देगा और उस बुद्धि को जन्म देगा जो सभी मतों के सारत मूल्यांशों

द्वारा उनकी अच्छाइयों का अनुमोदन और बुराइयों का त्याग कर देगी एवं उस हृदय को विकसित करेगा जो सभी को सहज स्नेह देगा। साथ ही उस चेतना का प्रस्फुटन करेगा जो सार्वभौम होने के कारण मनुष्य जाति को आंतरिक एकता में संयोजित कर देगी।

अध्याय ४

अध्यात्म की देन

राधाकृष्णन वर्तमान युग को अमानवीय मानते हैं। यह युग अनेक आविष्कार, विषमता और विस्मयता का है यह वैज्ञानिक युग है। विज्ञान ने चेतना से अधिक महत्त्व पदार्थ को दे दिया है। मानवता से अधिक श्रेष्ठता सत्ताप्रेम को प्रदान कर दी है। स्पष्ट है इस काल का मानव मानव धरातल से अत्यधिक दूर हो गया है। साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि मानव मानव होकर ही जी सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान अपने आप मे ठीक है किन्तु जब उसे ही पूर्ण सत्य मान लेते हैं तब वह अनन्त आपत्तियों का कारण बन जाता है। वैज्ञानिक ज्ञान की उन्नति भी उसकी सीमाओं का उद्घाटन कर रही है। यह ज्ञान सम्पूर्ण नहीं है। कुछ ऐसी अन्तिम सीमाएँ है जिनका अतिक्रमण करना वैज्ञानिक ज्ञान की शक्ति में नहीं है। यह विश्व के आंतरिक सत्य को समझने में असमर्थ है। यह विश्व के तथ्यों का विश्लेषण कर लेता है उनके पारस्परिक सम्बन्धों को भी समझ लेता है किन्तु विश्व की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता है। उसके अनुसंधान विश्व की वर्तमान स्थिति तक ही सीमित है। विश्व के आदि और अंत पर विज्ञान अभी प्रकाश नहीं डाल पाया है। विश्व प्रयोजन और विश्व उत्पत्ति को समझने में असमर्थ विज्ञान अपने आप में अपूर्ण है—उसकी अपूर्णता दर्शन की अपेक्षा रखती है। यह दर्शन के वरद हस्त के बिना पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है।

दर्शन से वियुक्त विज्ञान की उन्नति ने अमानवीय एवं पाशविक प्रवृत्तियों की उन्नति—घृणा, प्रतिशोध, प्रतिस्पर्धा एवं शक्तिशाली बनने की लालसा को प्रोत्साहित किया है। यह भयंकर विनाश का सूचक है। किसी भी क्षण उद्जन की प्रचंड अग्नि पृथ्वी को भस्म कर सकती है। अतः आज मानव के सम्मुख एक ही मार्ग है या वह मानवीय बने या विनष्ट हो जाए। किन्तु जीवन जीने के लिए है। जीना ही मनुष्य का धर्म है। यह धर्म उस आत्मा का धर्म है जो आत्म-प्रबुद्ध है जिसे शुभ अशुभ सुन्दर-असुन्दर, वांछनीय-अवांछनीय का ज्ञान है जो अपने बीते हुए, भूत-भविष्य और वर्तमान पर चिंतन कर सकती है तथा जो अपनी भावी की स्वयं निर्मात्री है।

मानव-जीवन की तुला पर जब राधाकृष्णन वर्तमान सभ्यता को तोलते हैं अथवा उन मूल्यों का परीक्षण करते हैं जिन्हें आज के समाज ने अपनाया है तो उन्हें घोर निराशा होती है। ये मूल्य सहज मानवीय सत्यों के प्रतीक नहीं हैं। ये जीवन-संरक्षण में सहयोगी होने के विपरीत उसको ध्वंस की ओर ले जा रहे हैं। किन्तु साथ ही राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि वर्तमान सभ्यता पूर्णतः त्याज्य नहीं है इसमें बहुत-कुछ शुभ है ग्रहण करने योग्य है। दुःख है कि वरणीय तत्त्व अविवेक के कुहासे में छिप गए हैं। वे अपना अर्थ और दायित्व खो बैठे हैं। जिस भाँति कीचड़ में लिपटे हीरे की ज्योति नहीं दीखती है वह मिट्टी का ढेला ही प्रतीत होता है उसी भाँति वरणीय तत्त्व मानव चेतना की उपज होने पर भी दुराग्रहों, मनोविकारों, अंधविश्वासों, मद और स्वार्थ की प्रवृत्तियों तथा अविवेक से लिप्त हो जाने कारण मानवता से दूर हो गए हैं।

विश्व सभ्यता पूर्व और पश्चिम की जीवन प्रणाली एवं धर्म और विज्ञान साधनाओं से रिक्त नहीं है। पश्चिम के वैज्ञानिक मानव ने देश काल के व्यवधान को मिटाकर समस्त विश्व के देशों को एक दूसरे के निकट लाकर भौतिक सुखों की वृद्धि कर दी है एवं जीवन के बाह्य रूप को सँवार दिया है। पूर्व ने धार्मिक उन्नति अथवा आंतरिक समृद्धि द्वारा

चेतना के धर्म की मूलगत आवश्यकता को समझना है। किन्तु दोनों ही संकीर्णता के बाड़ में फँस गए हैं। वैज्ञानिक बुद्धि संशयात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्ति को जन्म दे रही है तथा आस्था अविवेक की बाढ़ मोड़ रही है। परिणामस्वरूप वैज्ञानिक बुद्धि और अविवेकी आस्था जीवन का अर्थ समझने का प्रयास करने के बदले उसे कुत्सित और दूषित बना रहे हैं। विज्ञान यदि प्रकृति पर शासन करने को ही सब कुछ मानने लगा है तो धर्म ने प्रचलनों रूढ़ियों अंधविश्वासों को अपना लिया है। यही कारण है आधुनिक विश्व-सभ्यता जीवन को प्रगति देने में असमर्थ है। वह अपनी कार्य शक्ति और जीवन क्षमता खो बैठी है। पौर्व संस्कृति निस्सत्व और मृतप्राय हो गई है तथा पाश्चात्य ध्वंसोन्मुखी। विश्व सभ्यता आज अनास्था अनाचार और अशांति से पीड़ित है। व्यापक ध्वंस की ओर बढ़ती हुई विश्वप्रवृत्ति राजनीतिक गतिविधियाँ सामाजिक और नैतिक अव्यवस्था आर्थिक विषमता और बौद्धिक अनिश्चितता मानवता के सत्व को चुनौती दे रही है। सत्य का अज्ञान एवं अधार्मिक प्रवृत्ति ही मानसिक भौतिक राजनीतिक सामाजिक आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के मूल में है। मनुष्य का विश्वास जीवन के शाश्वत मूल्यों से उठता गया है। वह उन्हें संदेह से देखने लगा है। उसकी अधार्मिक प्रवृत्ति ने उसे कहीं का नहीं रहने दिया है। वह निराश्रित और असहाय है। जीवन के आधारभूत मूल्यों के अज्ञान के कारण वह निरवलंब और दुर्बल अनुभव करने लगा है। दुर्बलता ने उसे शक्ति की ओर आकर्षित किया है। शक्ति देवतुल्य और पूजनीय हो गयी है प्रत्येक का अभीप्सित लक्ष्य बन गई है। प्रत्येक राष्ट्र और व्यक्ति शक्तिशाली होना चाहता है दूसरे को दबाना चाहता है। आज मानवता के सम्मुख सत्तारूढ़ होने की प्रतियोगिता है। शक्ति की दानवीय लालसा ने सर्वत्र आतंक फैला दिया है। कौन किसको किस समय लील जाएगा मालूम नहीं। न किसी पर किसी को विश्वास है न स्वाभाविक प्रेम और न सहज त्याग ही। यह मनुष्य की आध्यात्मिक निर्धनता की स्थिति है। आत्मोद्धार के स्रोत न

विमुक्त तत्व के ज्ञान से वञ्चित मानव धीरे-धीरे निर्जीव होता जा रहा है। यदि वह आध्यात्मिक एवं आत्मिक समृद्धि प्राप्त नहीं कर लेता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है।

विज्ञान की महत् शक्तियों को स्वीकार करते हुए राधाकृष्णन उसके सामने विनत नहीं हैं। वह समृद्धि व्यर्थ है जो आत्मिक क्षुधा को तृप्त नहीं कर सकती। वे आविष्कार त्याज्य हैं जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बना रहने देते। विज्ञान ने प्रकृति पर आशातीत अधिकार प्राप्त कर लिए हैं, उसके आविष्कार आश्चर्यजनक हैं, पर वे मानवीय नहीं हैं। आज मनुष्य ने प्रकृति के रहस्यों की कुंजी पा ली है उसके पास वस्तुओं का भण्डार लग गया है किन्तु इसने उसे पूर्व काल से अधिक सुखी और विवेकी नहीं बनाया है। मनुष्य की बुद्धि बौनी और कुण्ठित हो गयी है। वैज्ञानिक शक्ति के अनुपात में उसका विकास नहीं हो पाया है। विज्ञान मनुष्य की इच्छाओं को विकसित करके उनका उन्नयन और दिव्यीकरण करने के बदले उन्हें अधिक शक्तिशाली और पाशविक बना रहा है—उनकी अमानवीय तृप्ति के लिए अधिकाधिक साधन खोज रहा है। किन्तु सुरसा राक्षसी की भाँति उसकी लालसा संतुष्ट होने के बदले अधिकाधिक मुँह फाड़ रही है। जब तक वैज्ञानिक आविष्कार, अविष्कार ही क्यों औद्योगिक सभ्यता और प्रचलित धर्म मानवता एवं मानवचेतना के सत्य को आत्मसात् नहीं कर लेंगे तब तक वे निर्माणात्मक एवं कल्याणकारी कार्य नहीं कर पायेंगे। निःसन्देह वैज्ञानिकों ने उन प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है जिनका पूर्वजों ने भयभीत होकर स्तवन किया था। सभी प्रकार की सुख-सुविधा मनुष्यों को सुलभ हो गई है। अब चन्द्रलोक में भवन-निर्माण करने की कल्पना उन्हें पुलकित कर रही है। किन्तु क्या भौतिक सुख भोग आत्मिक सुख शान्तिदायक है? क्या आज का मनुष्य प्राचीन युग के मनुष्य से अधिक सुखी है? सभ्यता का माप दण्ड आत्मिक सुख और शान्ति को मानते हुए राधाकृष्णन विध्वंसकारी वैज्ञानिक सभ्यता का परीक्षण करते हैं और निष्कर्षस्वरूप कहते हैं कि आज

सर्वत्र निराशा ही निराशा परिलक्षित होती है। निराशा, अतृप्ति तथा दंभ ने जीवन को अभिभूत कर लिया है। शक्ति, अधिकार तथा स्वत्व की लालसा विमोहित प्रचण्ड एवं वीभत्स रूप ग्रहण करती जा रही है। बालक नवयुवक प्रौढ़ सभी दुःखी और व्याकुल हैं। बौद्धिक, भावुक एवं मानसिक व्यग्रता का साम्राज्य सर्वत्र छाया हुआ है। औद्योगिक-वैज्ञानिक सभ्यता आधिभौतिक सुखों की वृद्धि के साथ आन्तरिक अशान्ति की सूचक बन गई है। यह प्रत्यक्ष है कि सभी प्रकार के सुख-साधनों से घिरे हुए इस काल के मानव का मन तिक्त है। भौतिक सुख और आन्तरिक अशान्ति युगपत् रूप से बढ़ रहे हैं। तो क्या विज्ञान का वरदान मानव के लिए अभिशाप है? राधाकृष्णन विज्ञान को अभिशाप या त्याज्य नहीं मानते हैं। वे मात्र इस बात पर महत्त्व देते हैं कि विज्ञान को सत्य से विच्छिन्न करना घातक है। विज्ञान वरदान हो सकता है, निर्माणकारी और मंगलमय हो सकता है पर इसके लिए उसे सत्य पर आसीन होना होगा। सच देखा जाए तो विज्ञान और प्रचलित धर्म दोनों ही अच्छाइयों और बुराइयों को समेटे हुए हैं। यदि अच्छाइयों का आधार जीवित सत्य एवं शाश्वत सत्य है तो बुराइयाँ मानवस्वभाव जन्य सीमाओं की उपज हैं। बुराइयों का त्याग और अच्छाइयों का वरण उस विश्वचेतना या विश्व सत्य को अभिव्यक्ति देगा जो वास्तव में है और जो जीवन को वांछनीय बनाता है और बनाएगा।

प्रकृति पर शासन करने की दुर्दमनीय लालसा ने विज्ञान को अन्धा बना दिया है। भौतिक सुख-सुविधा प्राप्त व्यक्ति अन्तरात्मा के सत्य को भूल गया है। उसके अहं ने उसके आन्तरिक साम्य और शान्ति को भंग कर दिया है, उसे पशुवत् बना दिया है। वह प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिशोध और द्वेष के दावानल में झुलस रहा है। अपनी श्रेष्ठता एवं महानता स्थापित करने की चिन्ता उसे अनवरत घेरे रहती है। उसकी एकमात्र कामना है कि कैसे दूसरे की बुराई करूँ, कैसे उसका अपमान करूँ, कैसे उसे नीचा दिखाऊँ, कैसे उससे सब कुछ छीन लूँ। अथवा विज्ञान अपने विकास के

मात्र निम्न कुत्सित और जटिल इच्छाओं की वृद्धि को जन्म देकर अतृप्ति का कारण बन गया है। इच्छाओं के पतन ने मनुष्य को दानव बना दिया है। वह पारस्परिक एकता और प्रेम को भूलकर द्वेष और शत्रुता की अग्नि में झुलस रहा है। विज्ञान से अभ्युत्पन्न दर्शन शक्ति और मद का दर्शन है—सत्य देवत्व या मनुष्यत्व का नहीं है। वही दर्शन अथवा वही जीवन-प्रणाली मनुष्य को सुख दे सकती है जो आत्मबोध आत्म सत्य एवं आत्मज्ञान की उपज है। जो सभी आत्माओं को समान भाव से देखती है जो सर्वभूतान्तरात्मा को पहिचानती है। विज्ञान यदि मंगलमय होना चाहता है तो उसे इस सत्य को आत्मसात् करना होगा। तभी भौतिक सुख-समृद्धि सार्थक हो सकेगी और उसके साथ ही युगपत् रूप से आन्तरिक सुख-शान्ति स्थापित हो सकेगी। पारस्परिक आदान प्रदान स्नेह सहानुभूति मित्रता एकता त्याग और दया उस मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकेंगे जो इस युग की सर्वोच्च पुकार है। स्पष्ट है आज सभी मनुष्य इस अभाव का अनुभव कर रहे हैं—विज्ञान अपने अणुध्वंस की चेतावनी द्वारा तथा राजनीति अपनी कूटनीति चाणक्य नीति और युद्धकला द्वारा जिस मनुष्यत्व की स्थापना का डंका पीट रही है वह अन्य सब कुछ है किन्तु मनुष्यत्व नहीं है। इतिहास साक्षी है कि ऐसा स्वार्थान्धता भेद और छलबल मानवों में दानवता और पशुता को ही उपजाते हैं न कि एकत्व की भावना को। कूटनीति की कुटिलता ने सदैव ही मनोमालिन्य कटुता और भेदबुद्धि को जन्म दिया है। भय और आतंक पशुप्रवृत्ति के सूचक हैं, प्रकृति के राज्य के प्रहरी हैं। मानव मनों को निकट लाने के विपरीत यह उनमें फूट उत्पन्न कर रहे हैं। आत्माओं को सत्तात्मक एकता की डोरी में पिरोने के बदले उन्हें अशान्त और त्रस्त बना रहे हैं। यदि राजनीति विज्ञान एवं औद्योगिक सभ्यता लोगों को आश्वस्त करके उस वातावरण की स्थापना कर भी दे जो समस्त मानवता के लिए कल्याणप्रद है तो ऐसा वातावरण स्थायित्व रहित तथा क्षणिक होगा। स्थायित्व के लिए मनुष्य को अन्दर से बदलना एवं बना

स्थापित होना होगा। उसमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान को प्रज्वलित करना होगा। आत्मा का ज्ञान ही बतलाता है कि प्रत्येक का जीवन मूल्यमण्डित है, प्रत्येक के अस्तित्व का अर्थ है, प्रत्येक अपनी पूर्णता को प्राप्त करने का अधिकारी है। साथ ही मनुष्य एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित हैं। अतः बिना पारस्परिक सहयोग प्रेम सहानुभूति त्याग के वे जी नहीं सकते। जिन्हें अज्ञानवश मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है वे वास्तव में उसके प्रेमास्पद हैं, उसके अपने हैं। आत्मीयों का विनाश उसके स्वयं का विनाश है। वह तथा अन्य मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अविच्छिन्न अंग हैं। आज जो परस्पर शत्रुता, द्वेष बढ़ते जा रहे हैं उनके मूल में आत्मा का अज्ञान है। अज्ञान ने मनुष्य के समेकित व्यक्तित्व का विभाजन कर दिया है। वह जो कहता है करता नहीं है, जो करता है वह कहता नहीं है; उसके प्रकट आचरण तथा चिन्तन और स्वभाव में महान् भेद है; वह जैसा दीखता है वास्तव में वैसा है नहीं। चिन्तन और आचरण, आदर्श और यथार्थ, सिद्धान्त और व्यवहार, कथनी और करनी दो समान्तर रेखाओं की भाँति हो गई हैं जो कभी मिलती ही नहीं हैं। निःसन्देह एक ही व्यक्तित्व में ऐसे विरोधी तत्त्व उसके विघटन के सूचक हैं।

राधाकृष्णन इस विघटन को दूर करना अनिवार्य मानते हैं। मनुष्य को प्रथम अपने व्यक्तित्व का संयोजन करना है। उनका कहना है जब तक सिद्धान्त और व्यवहार में साम्य और एकत्व स्थापित नहीं हो जाता तब तक कुछ भी सम्भव नहीं है—न स्वस्थ जीवन, न मानव कल्याण। जब तक यह संघर्ष बना रहेगा कि जिसके मन में राम है और जिसके बगल में छुरी, तब तक कुछ नहीं हो पाएगा। आज का मनुष्य अनिश्चय, अविश्वास और विनाश [illegible] सागर में गोते खा रहा है। जिस तरह [illegible] इच्छाओं का प्रभंजन उसे कभी खाई की ओर ले जाता है तो कभी [illegible] की ओर [illegible] ऐसी स्थिति में अब कुछ भी निश्चित नहीं है मनुष्य तर्कहीन हो गया है। उसके स्वार्थ और [illegible]

क्रूर-क्रूरतर अगाध तथा बर्बर बना रहे हैं। धर्म पंथ आस्था अथवा अचलनों का पर्यायवाची हो गया है और विज्ञान ने मानव बुद्धि को संशय घृणा वितृष्णा तथा ध्वंस के बादलों से आच्छादित कर दिया है। आज मनुष्य कठपुतली सी बनी है। उसका विवेक भ्रष्ट हो गया है—वह निराश क्षुब्ध है। उसकी चेतना मलिन पड़ गई है—वैज्ञानिक नाशकारी प्रवृत्ति और प्रतिद्वन्द्विता तथा अचलनों के पंच थपेड़ों ने उसे उसके मूल स्रोत से दूर फेंक दिया है। राधाकृष्णन का कहना है कि मनुष्य के लिए चेतना के धर्म को समझना आवश्यक हो गया है। आध्यात्मिक जागरण के बिना मानव विनाश को प्राप्त हो जायेगा। जीवन को शुभ और मंगलमय बनाने के लिए उसे अपनी आत्मा का पुनर्बोधन कर अमर सारभूत सत्य तत्व को समझना है उसके अर्थ और प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त करना है। बिना जीवन के अन्दर पैठे हम उसे समझ नहीं सकते। जीवन के आन्तरिक सत्य का बोध चेतना के धर्म का बोध है। वही जीवन को जीवनी शक्ति, गति स्वास्थ्य और सत्य देगा। उसे सारपूर्ण बनाएगा। जीवन के सहज सत्यों की ओर जब मानव जाति समवेत रूप से बढ़ेगी तभी मानव अमरता तथा सम्पूर्ण मानवता पूर्णता प्राप्त करेगी।

राधाकृष्णन का विश्वास है कि विश्व की समस्त व्याधियों के मूल में आध्यात्मिक अज्ञान है। इस अज्ञान ने मानवता को जकड़ रखा है। आज वह चेतना के ज्ञान के अभाव का किसी न किसी रूप में अनुभव कर रहा है। जीवन में सर्वत्र निराशा और कुण्ठा परिलक्षित हो रही है। आश्चर्य है कि मानव अभी तक नहीं चेता है। वह जीवन का प्रयोजन उसका अर्थ और सार को समझने का प्रयत्न नहीं कर रहा है। जीवन को व्यवस्थित करने उसको उत्तरोत्तर बल देने की ओर ध्यान देने के विपरीत वह वासनाओं और इच्छाओं को विस्तृत कर रहा है। यही निम्न प्रवृत्तियों की कामना मदों का केन्द्र बना कर उसे जीवन के उद्देश्य से दूर ले जा रहा है। वह अन्धकार में पड़ा भौतिकवाद के फंदों में फंस

कर वृत्त में घूम रहा है। एक अव्यक्त आकुलता उसे आच्छादित किए है। उसकी यह व्याकुलता उन्नति विकास निर्माण सह-अस्तित्व आदि योजनाओं के रूप में भ्रान्ति की खोखली पुकार उठा रही है। उसके सभी प्रयास विलोडित विनष्ट होते जा रहे हैं क्योंकि उसकी प्रेरणा अर्थशून्य एकांगी और महत्त्वहीन है। विज्ञान ने जिस भौतिक समृद्धि का डंका पीटा है उसके चरम विकास की आकांक्षा अपने आप में घातक है। न वह पूर्ण ही हो सकती है और न मानवकल्याण की स्थापना ही कर सकती है। सुख-सुविधा की लालसा घृत पड़ी अग्नि की भाँति बढ़ती जा रही है— अपनी दावानलकार वृद्धि में वह असामाजिक तत्त्वों को प्रोत्साहित कर रही है। सुखोपभोग की वासना की तृप्ति के लिए व्यक्ति एक दूसरे का दमन और शोषण कर रहा है। स्वार्थ की कामना के लिए यंत्रवत् रूढ़ि-रीतियों का पालन कर रहा है एवं अन्धानुमोदन को धर्म समझने लगा है। वह पंडितों ज्योतिषियों तथा पद और शक्ति-सम्पन्नों को उत्कोच दे रहा है। फिर भी वह आंतरिक शान्ति से कोसों दूर है। वह दुखी और क्लान्त है क्योंकि वह स्वर्ण मृग को सत्य मानने लगा है। भौतिक समृद्धि अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। उसे आंतरिक आत्मिक एवं आध्यात्मिक परिपूर्णता का साधन बनाकर ही हम सुख प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इस महान् सत्य को भूलकर प्रत्येक व्यक्ति मात्र भौतिक सुख-साधनों की चिंता में ग्रस्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य गम्भीर अन्वेषण कर रहा है। उसके कार्य की स्वाभाविकता यह है कि वह कुत्सित आचरण कुंठाग्रस्त व्यवहार, अश्लील साहित्य असंतोषपूर्ण मानसिक चित्त-वृत्तियों और विचारधाराओं को मनोविज्ञान और वास्तविकता की दुहाई देकर अपना रहा है। उसका सत् आचरण दिखावटी है—वह अच्छे कर्म इसलिए नहीं करता कि वह अन्तर से सदाचारी है वरन् इसलिए कि वह दूसरों को प्रभावित कर सके उन पर अपनी महानता और श्रेष्ठता की धाक जमा सके पत्र-पत्रिकाओं में उसका नाम बहुचर्चित हो जाए और वह जनप्रिय हो जाए। दिखावा ही भोजन दिखावा ही वस्त्र और दिखावा

धर्म एवं आध्यात्मिक सत्य से पाश्चात्य जगत् अनभिज्ञ रहा है ? क्या यह मात्र पूर्व की धरोहर है ?

राधाकृष्णन की दृष्टि सदैव निष्पक्ष और सत्यान्वेषी है। वे कर्त-व्यनिष्ठ हैं। चेतना के धर्म के ग्राहक हैं। चेतना वह आधारभूत सत्य है जिसके बिना न पौर्व है न पाश्चात्य। यह विश्वजीवन में गुम्फित सत्य है। राधाकृष्णन ने अपने व्यापक और गहन अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित किया है कि विभिन्न दर्शन—योरोपीय चीनी भारतीय आदि—समान रूप से चेतना के सत्य पर आधारित हैं। उनमें अंतर इस चेतना के प्रति प्रबुद्धता का है। आध्यात्मिकता इसी अर्थ में मुख्यतः पूर्व की संपत्ति है क्योंकि यह इसके प्रति अधिक सजग रहा है। कोई भी दर्शन अपने आप में पूर्ण नहीं है क्योंकि सत्य समग्र एवं संपूर्ण है और विशिष्ट दर्शन दार्शनिक के दृष्टिकोण तथा समय की उपज है। प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी प्रकार का दोष परिलक्षित होता है। चेतना का सत्य सम्पूर्ण तथा व्यापक सत्य होने के कारण समस्त सिद्धान्तों को अपने भीतर समावेश करता है। राधाकृष्णन का कहना है कि विभिन्न दर्शनों की एकांगिता तथा विरोधों को दूर कर उनके सत्यांशों को चेतना के सत्य की एकता में समुचित रूप से प्रतिष्ठित करना आज के दार्शनिक का प्रथम कर्तव्य है। दर्शनों और सिद्धान्तों की परम एकांगिता ने लोगों को विभ्रम में डाल दिया है। वे सत्य को उसकी समग्रता में समझने के बदले उसके अस्वाभाविक भेदों और विरोधों में उलझ गए हैं। व्यापक दर्शन एवं विश्वदर्शन का प्रतिपादन करना राधाकृष्णन अपना प्रमुख धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि पौर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों का संघर्ष परम नहीं है। यदि हम सारग्राही दृष्टि से काम लें तो उनके विरोध मिट सकते हैं। दोनों ही एक ही व्यापक सत्य के दो रूप हैं। दोनों ही अच्छाइयों और बुराइयों से आविष्ट हैं। राधाकृष्णन विभिन्न दर्शनों का नीरक्षीर विवेचन करते हैं। उनकी बुराइयों को त्याग कर उनकी अच्छाइयों के एकत्व तथा साम्य पर प्रकाश डालते हैं।

आध्यात्मप्रेमी होने के कारण वे विभिन्न दर्शनों विशेषकर पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के मेल अथवा सत् संबंध के अभिलाषी हैं। पूर्व के परम्परावादी विवेक तथा पश्चिम के नवीन वैज्ञानिक ज्ञान और शक्ति लोलुपता के बीच जो मनोमालिन्य की दूरी उत्पन्न हो गयी है उसे मिटाने के लिए वे उस स्नेहबंध का निर्माण करते हैं जिसमें दोनों संयुक्त होकर एक दूसरे को समृद्ध सशक्त तथा संपन्न बना सकें। वे उन दोनों के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं और अपने इस रूप में उनका ध्येय समन्वयात्मक तथा पुनर्निर्माणात्मक है।

राधाकृष्णन का कहना है विश्व के इन दो महान् प्राचीन सभ्यताओं के परम्परागत सिद्धान्त दो भिन्न मान्यताओं को अपनाए हुए हैं। दोनों की ही मान्यताएं सत्य हैं किन्तु उनकी सत्यता एक दूसरे से विच्छिन्न होकर संभव नहीं है वरन् संयुक्त होकर। पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने स्वस्थ संपन्न जीवन के लिए एक दूसरे के याचक हैं। पूर्व को पश्चिमी विज्ञान को अपनाना होगा यदि वह अपने आध्यात्मिक मूल्यों को जीवन और सक्रिय रूप देकर उनकी सुरक्षा और स्थायित्व चाहता है। पश्चिम को वैज्ञानिक शक्ति का सदुपयोग करने के लिए पूर्व की आध्यात्मिकता का आश्रय लेना होगा। पश्चिम ने भौतिक प्रकृति का विवेकपूर्वक अन्वेषण कर उसे मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन बनाया है और पूर्व ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा मानव स्वभाव का दार्शनिक विश्लेषण कर उसके सामाजिक और नैतिक दायित्व पर प्रकाश डाला है तथा उसके गहरे आध्यात्मिक विकास की संभावनाओं का विश्लेषण किया है। अब आवश्यकता है कि दोनों ही एक दूसरे के अनुभव और ज्ञान का लाभ उठाएं अन्यथा दोनों ही अपने स्वाभाविक विकास की पूर्णता में आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे को समझने का प्रयास कर पारस्परिक गुणों का अनुशीलन तथा ग्रहण करना चाहिए। पूर्व और पश्चिम दोनों का ही मूलभूत आध्यात्मिक दृष्टिकोण समान है यद्यपि दोनों ने ही अपने विकासक्रम में भिन्न मूल्यों को अपना

क्यों महान् हानिप्रद है जब तक कि हम उन्हें आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं बना देते हैं। आध्यात्मिकता एकता और प्रेम का जीवन है। समभाव समदृष्टि और सहअस्तित्व का जीवन है। वह विश्वबंधुत्व का जीवन है। बिना उसे हृदय से अपनाए मानव प्रगति नहीं कर सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिक आविष्कार जीवन की रक्षा करने के विपरीत उसका ध्वंस कर रहे हैं। वास्तव में बाह्य प्राप्ति से कहीं अधिक मूल्यवान और आवश्यक आंतरिक प्राप्ति और सिद्धि है। मात्र बाह्य प्राप्ति विषमताओं का कारण बन जाती है। वह वास्तविक सुख प्रदान करना तो दूर कटुता और शत्रुता उत्पन्न करती है। वैज्ञानिक सभ्यता के पास शक्ति और धैर्य है पर वह मदान्ध और दिग्भ्रम में है। उसे नहीं मालूम कि इसका सदुपयोग कैसे करे—वह उसी भाँति उसका दुरुपयोग कर रही है जिस भाँति जीवन और शक्ति से ओतप्रोत अबोध बालक उचित निर्देश और ज्ञानाभाव के कारण अपने घर की वस्तुओं की तोड़-फोड़कर प्रसन्न हो उठता है अथवा उस प्रसिद्ध मूर्ख की भाँति जो उसी डाल को काटता है जिस पर वह स्वयं बैठा है। वैज्ञानिक युग का उन्माद विषधर की तरह फन फैलाकर मानव-विनाश के लिए फूत्कार कर रहा है। उसकी विषैली सांस इस काल के मानव को सुख-साधनों की यथेष्ट उपलब्धि होने पर भी सुखी जीवन व्यतीत नहीं करने दे रही है। आध्यात्मिक अंधकार ने मानव-जीवन को त्रस्त कर दिया है वह विवश है। सत्य ज्ञान के अभाव से भौतिक ऐश्वर्य एवं वैज्ञानिक उपलब्धियां निष्प्राण और निरर्थक हैं। निरर्थक ही क्यों वे विनाशकारी बन गई हैं। वैज्ञानिक सभ्यता की चेतना का भ्रम शाश्वत मूल्यों को चुनौती दे रहा है। बिना आध्यात्मिक मूल्यों के पाश्चात्य सभ्यता तथा वैज्ञानिक-औद्योगिक संस्कृति स्थायी नहीं रह सकती है। उसका ध्वंस अवश्यम्भावी है। विज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त कर ली है पर वह उसके रहस्यों का उद्घाटन कर अपने आप को भूल गया है। अपने मूल-स्रोत और जीवन ध्येय से स्खलित होकर उसे अपने स्वरूप का ज्ञान विस्मरण हो गया है।

मैं क्या हूँ ? आत्मसाक्षात्कार क्या है ? जीवन का ध्येय क्या है ?—आदि समस्याओं को वह अमूर्त अव्यावहारिक अवास्तविक कहकर टाल रहा है। उसकी इच्छाएँ सुनियोजित स्निग्ध और संतुष्ट होने के बदले अधिकाधिक जटिल और दानवी होती जा रही हैं। वह अपने ही सुखोपभोग की लालसा व्यक्तित्व के उन्माद कुतर्क तथा सन्देह में भस्म होता जा रहा है। उसे इसी के मिथ्या अहं ने दर्पित कर दिया है; न वह स्वयं सुखी है और न दूसरों को ही सुखी रहने दे रहा है। विज्ञान ने जिस व्यक्तिवाद, तर्क-बुद्धि संशयात्मक दृष्टिकोण को जन्म दिया है उसने मनुष्य को कठिन संकीर्ण और स्वार्थी बना दिया है। वैज्ञानिक की दृष्टि को आध्यात्मिक अंधकार ने रुद्ध कर दिया है। विज्ञान तर्कबुद्धि का अतिक्रमण करने में असमर्थ है और सत्यज्ञान एवं अध्यात्म तर्कबुद्धि तक सीमित नहीं रह सकता है। वह तर्कबुद्धि से अधिक है। सम्पूर्ण आत्मा का सत्य है। आत्मज्ञान अथवा चेतना का ज्ञान ही मनुष्य को—मानवता को—सुख और संतोष दे सकता है।

यदि विश्व की समस्याओं के मूल में आध्यात्मिक अंधकार है तो इस अंधकार को दूर करने का क्या उपाय है ? क्या आध्यात्मिक जागरण संभव है ? क्या आध्यात्मिकता विज्ञान और प्रचलित एवं अविकसित धर्म की सीमाओं को दूर कर उन्हें स्वस्थ जीवन विकास के लिए सहयोगी बना सकती है ? जिस चेतना के धर्म पर रामकृष्ण को अगाध विश्वास है अथवा जिसकी उपासना करते-करते वह कभी नहीं थकते हैं वह कहाँ है, कहाँ से आएगा ? क्या उसका अस्तित्व मात्र रामकृष्ण की कल्पना में है। रामकृष्ण आध्यात्मिकता की एक ज्वलंत वास्तविकता मानते हैं। उनका कहना है कि आध्यात्मिकता चिरन्तनी है वा युग भी है वह चेतना का ही प्रमाण है तथापि इसको हृदयपूर्वक अपनाने का श्रेय युगों को ही है। युगे ही आज युग इसके पुनर्जागरण अथवा पुनर्जीवन का भार वहन कर सकता है। समग्र मानवता को वह उस आत्मवत् जीवन की दृष्टि दे सकता है जो आत्मदीपित है। जो सत्य चैतन्य के

धर्म एवं आध्यात्मिक सत्य से पाश्चात्य जगत् अनभिज्ञ रहा है ? क्या यह मात्र पूर्व की धरोहर है ?

राधाकृष्णन की दृष्टि सजग निष्पक्ष और सत्यान्वेषी है। वे धर्म व्यमिष्ठ हैं। चेतना के धर्म के ग्राहक हैं। चेतना वह आधारभूत सत्य है जिसके बिना न पौर्व है न पाश्चात्य वह विश्वजीवन में मुखरित सत्य है। राधाकृष्णन ने अपने व्यापक और गहन अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित किया है कि विभिन्न दर्शन—योरोपीय चीनी भारतीय आदि—समान रूप से चेतना के सत्य पर आधारित हैं। उनमें अंतर इस चेतना के प्रति प्रबुद्धता का है। आध्यात्मिकता इसी अर्थ में मुख्यतः पूर्व की संपत्ति है क्योंकि वह इसके प्रति अधिक सजग रहा है। कोई भी दर्शन अपने आप में पूर्ण नहीं है क्योंकि सत्य समग्र एवं संपूर्ण है और विशिष्ट दर्शन दार्शनिक व दृष्टिकोण तथा समय की उपज है। प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी प्रकार का दोष परिलक्षित होता है। चेतना का सत्य सम्पूर्ण तथा व्यापक सत्य होने के कारण समस्त सिद्धान्तों को अपने भीतर समावेश करता है। राधाकृष्णन का कहना है कि विभिन्न दर्शनों की एकांगिता तथा विरोधों को दूर कर उनके सत्यांशों को चेतना के सत्य की एकता में समुचित रूप से प्रतिष्ठित करना आज के दार्शनिक का प्रथम कर्तव्य है। दर्शनों और सिद्धान्तों की परम एकांगिता ने लोगों को विभ्रम में डाल दिया है। वे सत्य को उसकी समग्रता में समझने के बदले उनके अस्वाभाविक भेदों और विरोधों में उलझ गए हैं। व्यापक दर्शन एवं विश्वदर्शन का प्रतिपादन करना राधाकृष्णन अपना प्रमुख धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि पौर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों का अपना चरम नहीं है। यदि हम सारग्राही दृष्टि से काम लें तो उनके विरोध मिट सकते हैं। दोनों ही एक ही व्यापक सत्य के दो रूप हैं। दोनों ही सम्प्रदायों और बुराइयों से आविष्ट हैं। राधाकृष्णन विभिन्न दर्शनों का नीरक्षीर विवेचन करते हैं। उनकी बुराइयों को त्याग कर उनके सम्प्रदायों के एकत्व तथा साम्य पर प्रकाश डालते हैं।

आध्यात्मप्रेमी होने के कारण वे विभिन्न दर्शनों विशेषकर पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के मेल अथवा सत् संबंध के आकांक्षी हैं। पूर्व के परम्परावादी विवेक तथा पश्चिम के नवीन वैज्ञानिक ज्ञान और शक्ति-लोलुपता के बीच जो मनोमालिन्य की दूरी उत्पन्न हो गयी है उसे मिटाने के लिए वे उस स्नेहबंध का निर्माण करते हैं जिसमें दोनों संयुक्त होकर एक दूसरे को समृद्ध सशक्त तथा सपन्न बना सकें। वे उन दोनों के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं और अपने इस रूप में उनका ध्येय समन्वयात्मक तथा पुनर्निर्माणात्मक है।

राधाकृष्णन का कहना है विश्व के इन दो महान् प्राचीन सभ्यताओं के परम्परागत सिद्धान्त दो भिन्न मान्यताओं को अपनाए हुए हैं। दोनों की ही मान्यताएं सत्य हैं किन्तु उनकी सत्यता एक दूसरे से विच्छिन्न होकर सम्भव नहीं है वरन् संयुक्त होकर। पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने स्वस्थ सफल जीवन के लिए एक दूसरे के पूरक हैं। पूर्व को पश्चिमी विज्ञान को अपनाना होगा यदि वह अपने आध्यात्मिक मूल्यों को जीवित और सक्रिय रूप देकर उनकी सुरक्षा और स्थायित्व चाहता है। पश्चिम को वैज्ञानिक शक्ति का सदुपयोग करने के लिए पूर्व की आध्यात्मिकता का आश्रय लेना होगा। पश्चिम ने भौतिक प्रकृति का विवेकपूर्वक अन्वेषण कर उसे मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन बनाया है और पूर्व ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा मानव स्वभाव का दार्शनिक विश्लेषण कर उसके सामाजिक और नैतिक दायित्व पर प्रकाश डाला है तथा उसकी गहन् आध्यात्मिक जिज्ञासा की सम्भावनाओं का विश्लेषण किया है। अब आवश्यकता है कि दोनों ही एक दूसरे के अनुभव और ज्ञान का लाभ उठाएं अन्यथा दोनों ही अपने स्थायी विकास की घुटन से आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे को समझने का प्रयास कर पारस्परिक गुणों का अनुमोदन तथा प्रशंसा करनी चाहिए। पूर्व और पश्चिम दोनों का ही मूलगत आध्यात्मिक दृष्टिकोण समान है यद्यपि दोनों ने ही अपने विकासक्रम में भिन्न मूल्यों को अपना-

लिया है। किन्तु ये सूक्ष्म दुरूह तथा दुर्बोध नहीं हैं। मूलतः एक ही सत्य की अभिव्यक्ति होने के कारण ये बोधगम्य तथा अविरोधी हैं।

विभिन्न दर्शनों में जो भेद दीखता है वह मूलगत नहीं है, वह भेद केवल प्रणाली का है अथवा उस माध्यम का जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। भाषा परम्परा परिवेश अभिव्यक्ति की शैली अनुभूति तथा व्यक्तित्व के अनुरूप प्रत्येक चिंतक अपने सत्य ज्ञान को अभिव्यक्ति देता है। सत्य का ज्ञान सार्वभौम है; देशकाल की सीमा में उसे नहीं बाँधा जा सकता। पर यह अवश्य है कि जब कोई दार्शनिक या विचारक सत्य को अपने विचारों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है तब वह उसे अपनी अभिव्यक्ति की शैली समय और परिस्थिति का रूप अनायास ही देता है। किन्तु एक निष्पक्ष पाठक और आलोचक को चाहिए कि वह दर्शन में निहित सत्य को इन सीमाओं से मुक्त करके समझने की चेष्टा करे।। जब हम विभिन्न दर्शनों को उनके विशुद्ध रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो यह सहज ही प्रतीत हो जाता है कि सभी दार्शनिकों ने अपने गहन चिंतन के अमूल्य क्षणों में विशुद्ध आत्मा और अनुभवात्मक आत्मा पारमार्थिक और प्रतिभासित सत्ता सहजबोध और तर्कबुद्धि के भेद को समझा है। विश्व के किसी भी भाग के दार्शनिकों को ले लें—उन दार्शनिकों को जिन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है अथवा जिनमें सच्ची दार्शनिक जिज्ञासा रही है उनकी मूलगत दार्शनिक आस्था में समानता मिलती है। यह आस्था यह भी बतलाती है कि जिस देश और काल में दार्शनिक आस्था प्रबल रही है वह देश और काल उत्कृति तथा सभ्यता के उत्थान के युग का द्योतक रहा है। अतः दार्शनिक समृद्धि का काल देश की उन्नति का काल रहा है और दार्शनिक ह्रास पतन का काल। जब दार्शनिक चिंतन और जीवन रुद्ध हो जाता है तब कुण्ठावस्था कूठा संदेह अज्ञानान्धकार देश को घर लेते हैं और परम्परा निर्मूल होकर अप्रासंगिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में दर्शन को ही देश की शुद्धि और विकास के लिए फिर से उठकर अग्र

प्रवाहक बनना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जब दर्शन राष्ट्र एवं देश के जीवन का प्रतिबिम्बित कर उस पर प्रतिष्ठित हो जाता है तभी देश उन्नति कर पाता है। समय की आवश्यकतानुसार विशिष्ट विचारधाराएं जन्म लेती हैं—इन विचारधाराएं परिस्थितियों के साथ वार्तालाप पाती हैं अर्थात् विचारधाराएं परिस्थितिजन्य हैं। एक विशिष्ट परिस्थिति विशिष्ट चिंतन पद्धति को जन्म देकर कालक्रम में विलीन एवं निर्मूल हो जाती है। इतिहास की प्रवहमान धारा में वह समय के साथ अपने अवशेष छोड़कर लुप्त हो जाती है। यही कारण है कि कोई विचार, विचारधारा या सिद्धान्त चरम और निरपेक्ष नहीं है यद्यपि उसका अस्तित्व अपने आप में एक अर्थ रखता है विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को उन देश काल और परिस्थितियों के संदर्भ में ही भलीभांति समझा जा सकता है जो उनके जन्म का कारण रही हैं अन्यथा उनकी उपयोगिता और अर्थ का निष्पक्ष मूल्यांकन असम्भव हो जायेगा। सभी दर्शनों का आकलन परिवर्तनशील समय की उपज है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसका सार तत्त्व खोखला है क्योंकि महान् दार्शनिक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनकी मूल अनुभूति समान है—सभी ने शाश्वत सत्य का अनुभव किया है। पर जब विचारप्रिय मानव इन दर्शनों का अध्ययन विरोध एवं कटु आलोचना की दृष्टि से करता है तो वह उनके आधारभूत एकता में सत्य को समझने के बदले शाब्दिक भिन्नता और आचारों की विभिन्नता में खो जाता है।

मूलतः आध्यात्मिक एकता की खोज को अपना लक्ष्य मानकर राधाकृष्णन विज्ञान और धर्म दोनों का स्थापन करते हुए उनके दोषों पर कुठाराघात होकर प्रहार करते हैं। विज्ञान और धर्म कोई भी उनकी सूक्ष्म दर्शनोन्मुखी बुद्धि से नहीं बच पाते हैं। दोनों ही की दुर्बलताओं के प्रति उन्हें दुःख पहुँचता है जो धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी धर्मनिरपेक्ष है। दोनों को उनके दोषों से मुक्त कर वे उन्हें सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् की व्याख्या में मण्डित कर देना चाहते हैं। उनका कहना है विज्ञान और

लिया है। किन्तु वे सूक्ष्म दुरूह तथा दुर्बोध नहीं हैं। मूलतः एक ही सत्य की अभिव्यक्ति होने के कारण वे बोधगम्य तथा अविरोधी हैं।

विभिन्न दर्शनों में जो भेद दीखता है वह मूलगत नहीं है, वह भेद केवल प्रणाली का है अथवा उस माध्यम का जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। भाषा परम्परा परिवेश अभिव्यक्ति की शैली अनुभूति तथा व्यक्तित्व के अनुरूप प्रत्येक चिंतक अपने सत्य ज्ञान को अभिव्यक्ति देता है। सत्य का ज्ञान सार्वभौम है; देशकाल की सीमा में उसे नहीं बाँधा जा सकता। पर यह स्वाभाविक है कि जब कोई दार्शनिक या विचारक सत्य को अपने विचारों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है तब वह उसे अपनी अभिव्यक्ति की शैली समय और परिस्थिति का रूप आभास ही देता है। किन्तु एक निष्पक्ष पाठक और आलोचक को चाहिए कि वह दर्शन में निहित सत्य को इन सीमाओं से मुक्त करके समझने की चेष्टा करे।। जब हम विभिन्न दर्शनों को उनके विशुद्ध रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो यह सहज ही प्रतीत हो जाता है कि सभी दार्शनिकों ने अपने गहन चिंतन के अमूल्य क्षणों में विशुद्ध आत्मा और अनुभवात्मक आत्मा पारमार्थिक और प्रतिभासित सत्ता सहजबोध और तर्कबुद्धि के भेद को समझा है। विश्व के किसी भी भाग के दार्शनिकों को ले लें—उन दार्शनिकों को जिन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है अथवा जिनमें सच्ची दार्शनिक जिज्ञासा रही है, उनकी मूलगत दार्शनिक आस्था में समानता मिलती है। यह आस्था यह भी बतलाती है कि जिस देश और काल में दार्शनिक आस्था प्रबल रही है वह देश और काल संस्कृति तथा सभ्यता के उत्थान के युग का द्योतक रहा है। अतः दार्शनिक समृद्धि का काल देश की उन्नति का काल रहा है और दार्शनिक ह्रास पतन का काल। जब दार्शनिक चिंतन और जीवन रुद्ध हो जाता है तब कुण्ठावस्था कूठा अहं, अज्ञानान्धकार देश को घेर लेता है और परम्परा निर्मूल होकर अशक्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में दर्शन को ही देश की मुक्ति और विकास के लिए फिर से उठकर पथ

धर्म अपनी विशिष्टता रखते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। उनका समन्वय अनिवार्य है। मानव सभ्यता इस समन्वय की अपेक्षा रखती है।

विज्ञान के विरुद्ध उनका कहना है कि मनोविज्ञान जीवशास्त्र नक्षत्रविद्या भौतिकशास्त्र समाजविज्ञान राजनीति आदि अपनी नवीनता का दावा प्रकट करते हैं पर उनकी नवीनता जीवन के पाशविक स्तर तथा युद्ध क्षेत्र को ही सुशोभित कर सकती है। वैज्ञानिक आविष्कार स्वयं अपने जन्मदाता मनुष्य का ही विनाश कर रहे हैं। साथ ही विज्ञान न तो जीवन के ध्येय पर प्रकाश डाल पा रहा है और न जीवन की तात्कालिक समस्याओं को ही सुलझा पा रहा है। हम आज और अभी कैसे जिएँ, यह बतलाने में विज्ञान असमर्थ है। वैज्ञानिकता से पूर्ण प्रभावित अर्वाचीन पाश्चात्य दार्शनिक की स्थिति भी वैज्ञानिक से श्रेष्ठ नहीं है। दोनों ही एक ही समान नौकाओं पर बैठे हैं। मनुष्य घबड़ाकर ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का आश्रय खोज रहा है पर वे उसकी स्थिति को अधिक दयनीय बना रहे हैं। जीवशास्त्र यदि उसे वातावरण तथा प्राकृतिक नियमों की पराधीनता का पाठ पढ़ा रहा है तो मनोविज्ञान उसे परिस्थिति परिवेश अचेतन मन और ग्रन्थियों के कारागार में बन्द कर रहा है। भौतिकशास्त्र आदि विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञान उसकी मोक्षलिप्सा को पाशविक बना रहे हैं। राजनीति और समाजशास्त्र उसके आन्तरिक और आध्यात्मिक विकास एवं सर्वांगीण विकास को भुलाकर उसे राजसत्ता और समाज के हाथ का दास बना रहे हैं। आज का मानव चेतनात्मक ऐक्य न साँस लेने के विपरीत नियम शक्ति भय और सह-अस्तित्व के पाठ को मुक्तवत् दुहरा रहा है। नवीन तत्त्वज्ञान ने आत्मा ईश्वर सम्बन्धी तात्त्विक समस्याओं को बौद्धिक और मानसिक व्यायाम तथा तर्क और गणित की अनिवार्य मान्यताओं तक सीमित कर दिया है। राधाकृष्णन विज्ञान के ऐसे विस्तृत कुप्रभाव पर दुःख प्रकट करते हैं। विज्ञान अपने आप में बुरा नहीं है। दोष मनुष्य की भ्रष्टबुद्धि का है जो धर्म की भाँति विज्ञान का भी दुरुपयोग कर रही है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य

दृष्टिकोण अपना लिया है। वह स्वार्थी और भोगविलासप्रिय हो गया है। धनिक सुविधा सत्ताप्रेम तथा विलासिता की तुष्टि के लिए विज्ञान को अपनाकर वह असम्य जूस कर रहा है।

वैज्ञानिक ज्ञान की अपनी विशेषताएँ हैं। वह सार्वभौम है। विज्ञान समस्त विश्व की सम्पदा है। वैज्ञानिक संस्कृति मात्र योरोप की नहीं है, वह मानवजाति की है। इस संस्कृति के गुण और अगुण गुण समस्त विश्व को आच्छादित किए हुए हैं। खेद है कि अच्छाइयों की तुलना में इसकी बुराइयाँ अधिक उभर आई हैं। इसके ध्वंसात्मक पक्ष ने इसके निर्माणात्मक पक्ष को निगल लिया है। विज्ञान के आधिपत्य में यह विचारधारा जनप्रिय हो गई है जो शारीरिक सुख को ही सब कुछ मानती है—यह उस अटूट मनोवैज्ञानिक सत्य को भूल गई है कि शारीरिक दुख से कहीं अधिक असह्य और दीर्घकालीन मानसिक दुख है। वैज्ञानिक मानव को धार्मिक एवं आध्यात्मिक सत्य का विस्मरण हो गया है किन्तु उसका यह विस्मरण उसी को प्रताड़ित कर रहा है। सत्य के प्रति उदासीनता उस मानव आस्था के प्रति उदासीनता है जिसकी पूर्णता और आनन्द के हम आकांक्षी हैं। यह उदासीनता—उदासीनता ही क्यों विमुखता भी वर्तमान दुख वैमनस्य कटुता ध्वंस आदि को बढ़ा रही है। समाज की वर्तमान स्थिति कष्टप्रद है। सम्यता को सुख भोग भौतिकता को प्रचलन धर्म को परिपाटी तथा राजनीति को व्यापार और शोषण मान लिया है। राधाकृष्णन इस लज्जा और घोर दुख से मनुष्यजाति की मुक्ति चाहते हैं। उनका कहना है वैज्ञानिक मशीन ने मनुष्य को कर्तव्य-विमूढ़ कर दिया है। वह बुद्धि का दुरुपयोग करने लगा है। कुकर्म करना तथा दूसरों को प्रताड़ित करना उसका स्वभाव हो गया है। उसकी शिक्षा संकुचित हो गई है। आध्यात्मिक अंधकार में कामनाओं लहरों की अनन्तता उसे भ्रमित कर रही है। उसका सदाचार रूपात्मक है। वह सहज मन से अथवा आस्था से सदाचारी नहीं है किन्तु दूसरों को प्रभावित करने के लिए सदाचार का प्रदर्शन करता है। उसे मालूम पड़ने की

आवश्यकता अनिवार्य हो गई है। उसके भीतर और बाहर, दोनों का रूपान्तर करना होगा। उसका आध्यात्मिक जागरण करना होगा उसकी धार्मिक चेतना को सुप्तावस्था से जगाना होगा। बिना धार्मिक जागृति धार्मिक पुनरुत्थान के उसका कल्याण असम्भव है। उसे धार्मिक सत्य की ओर उन्मुख करना होगा। राधाकृष्णन आध्यात्मिक धर्म के सूत्रकार तथा चेतना के सन्देशवाहक हैं। लोगों के भीतर आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था जगाना वे अपना सर्वप्रिय कर्तव्य मानते हैं। विचारों की विगत सफलता एवं धार्मिक सत्य के अभाव ने करोड़ों मानवों को आक्रान्त कर तृतीय विश्व-युद्ध के भय से त्रस्त कर रखा है। वैज्ञानिक और यन्त्रवाद की सभ्यता ने सन्देह नास्तिकता तथा व्यवबुद्धि को प्रश्रय दिया है।

राधाकृष्णन वैज्ञानिक संस्कृति को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि यदि मानवता को अपनी रक्षा करनी है तो उसे आध्यात्मिक जीवन को अपनाना होगा। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों राजनीतिक आर्थिक पारिवारिक सामाजिक व्यावसायिक स्तरों तथा समस्त जीवन को सुखद बनाने के लिए मनुष्य को आध्यात्मिकता का वरण करना ही होगा। वही धार्मिक असमानता को दूर करेगी दुःखद विगत को सुखद वर्तमान और मंगलमय भविष्य में बदल देगी। राजनीतिक और राष्ट्रीय सम्बन्धों को दानवीय शक्ति के पाश से मुक्त कर मानवता के सूत्र में बांध देगी। आध्यात्मिकता का स्वरूप निरापद और मंगलमय जीवन व्यतीत करने के लिये मनुष्यों को पूर्व की ओर देखना होगा। पूर्व में ही वह शक्ति है जो भौतिकता का आध्यात्मिकता में रूपान्तर कर सकती है। आध्यात्मिकता यद्यपि समस्त विश्व की सम्पत्ति है किन्तु इसे पूर्व ने ही मुख्यतः समझा और पूर्णरूपेण अपनाया है। अतः पूर्व ही विश्व को आध्यात्मिक जीवन प्रदान कर सकता है। उसमें आध्यात्मिक चेतना का स्वरूप और शान्ति मंगलमय वातावरण प्रस्फुटित कर सकता है। मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाकर उनमें विश्वबोध जागृत कर सकता है। उन्हें सिखा सकता है कि

दृष्टिकोण अपना लिया है। वह स्वार्थी और भोगविलासप्रिय हो गया है। सुविधा सत्ताप्रेम तथा विलासिता की तुष्टि के लिए विज्ञान को अपनाकर वह प्रलय का सूत्रपात कर रहा है।

वैज्ञानिक ज्ञान की अपनी विशेषताएँ हैं। वह सार्वभौम है। विज्ञान समस्त विश्व की सम्पदा है। वैज्ञानिक संस्कृति मात्र योरोप की नहीं है, वह मानवजाति की है। इस संस्कृति के शुभ और अशुभ पक्ष समस्त विश्व को आच्छादित किए हुए हैं। खेद है कि अच्छाइयों की तुलना में इसकी बुराइयाँ अधिक उभर आई हैं। इसके ध्वंसात्मक पक्ष ने इसके निर्माणात्मक पक्ष को निष्क्रिय किया है। विज्ञान के आधिपत्य में वह विचारधारा बलवती हो गई है जो शारीरिक सुख को ही सब कुछ मानती है—वह उस अटूट मनोवैज्ञानिक सत्य को भूल गई है कि शारीरिक दुख से कहीं अधिक असह्य और दीर्घकालीन मानसिक दुख है। वैज्ञानिक मानव को धार्मिक एवं आध्यात्मिक सत्य का विस्मरण हो गया है किन्तु उसका यह विस्मरण उसी को प्रताड़ित कर रहा है। सत्य के प्रति उदासीनता उस मानव आत्मा के प्रति उदासीनता है जिसकी पूर्णता और आनन्द के हम आकांक्षी हैं। यह उदासीनता—उदासीनता ही क्यों, वितृष्णा भी वर्तमान दुख वैमनस्य कटुता ध्वंस आदि को बढ़ा रही है। समाज की वर्तमान स्थिति लज्जास्पद है। सभ्यता को सुख भोग नैतिकता को प्रवञ्चना धर्म को परिपाटी तथा राजनीति को व्यापार और शोषण मान लिया है। राधाकृष्णन इस लज्जा और घोर दुख से मनुष्यजाति की मुक्ति चाहते हैं। उनका कहना है वैज्ञानिक प्रगति ने मनुष्य को कर्तव्य-विमूढ़ कर दिया है। वह बुद्धि का दुरुपयोग करने लगा है। कुतर्क करना तथा दूसरों को प्रताड़ित करना उसका स्वभाव हो गया है। उसकी चिन्ता संकुचित हो गई है। आध्यात्मिक अंधकार में संकल्पों विकल्पों की अनन्तता उसे भ्रमित कर रही है। उसका सदाचार रूपात्मक है। वह सहज मन से अथवा आस्था से सदाचारी नहीं है किन्तु दूसरों को प्रभावित करने के लिए सदाचार का प्रदर्शन करता है। उसे मामूल बदलने की

आर्थिकता अथवा भौतिकता और ऐश्वर्य ही जीवन का आदि और अन्त नहीं है। जीवन का सार सद्गुण है। उसकी परिणति दिव्य जीवन है। उसका ध्येय एकता और प्रेम का जीवन है।

सकता है क्योंकि हिन्दू विचार आधुनिक मानव की आत्मा की उन्नति के लिए पारम्परत मूल्य युक्त जीवन्त शक्ति है।

राधाकृष्णन का यह कथन हिन्दू धर्म के पाश्चात्य आलोचकों को प्रिय नहीं है। वे कहते हैं हिन्दू धर्म अविश्वास निरर्थक और अवसादग्रस्त है। उसका दृष्टिकोण अभावात्मक अव्यावहारिक अमानववादी पलायनवादी और भाग्यवादी है। वह उचित मानव मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है। उसमें जीवन को शक्ति देने की प्रेरणा नहीं है। वह निराशावादी निष्क्रिय और शक्तिशून्य है। राधाकृष्णन का बौद्धिक कुठार उन सभी पाश्चात्य विचारकों का खण्डन करता है जो भारतीय दर्शन एवं मूलतः हिन्दू धर्म को अयोग्य और मृत कहते हैं उसके पुनर्जीवन को असम्भव मानते हैं। राधाकृष्णन का अपने धर्म के प्रति प्रेम और ममत्व सहज तथा संस्कारजन्य होने के साथ ही दार्शनिक और बौद्धिक है। वे हिन्दू धर्म के सभी तत्त्वों के अंध उपासक तथा प्रशंसक नहीं हैं। हिन्दुत्व के नाम पर जो भी स्वीकृत या प्रचलित है उसे वे प्रशंसात्मक नहीं मान लेते हैं। उसकी सीमाओं को वे समझते और स्वीकार करते हैं किन्तु उनका कहना है ये सीमाएँ अक्षम्य असहनीय और हास्यास्पद नहीं हैं। हिन्दू धर्म के मूलतत्त्व से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में ये वे सीमाएँ हैं जिनसे विश्व का कोई भी धर्म अछूता नहीं है ये कालजन्य सापेक्ष तथा मानव दुर्बलता जनित हैं। विश्व के धर्मों का इतिहास बताता है कि प्रत्येक धर्म चाहे उसका आधार सत्य कितना ही व्यापक और महान् हो, कालान्तर में संकीर्णताओं और कुरीतियों से आपन्न हो जाता है। यदि हिन्दू धर्म आज अपने प्रचलित रूप में अलौकिक अवास्तव और अव्यावहारिक हो गया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसका अंतर्तत्त्व कैसा है? राधाकृष्णन सिद्ध करते हैं कि उसका अन्तर्तत्त्व सत्यम् शिवम् तथा सुन्दरम्पूर्ण है। पाश्चात्य विचारकों की आलोचना यदि कहीं ठीक बनती है तो इसके बाहरी रूप के सम्बन्ध में जो कि धर्म का छिलका है न कि उसकी वास्तविक चेतना। धर्म के बाह्य स्थूल या प्रचलित पक्ष पर

राधाकृष्णन भी मुक्त प्रहार करते हैं पर साथ ही इस तथ्य पर बार-बार प्रकाश डालते हैं कि हिन्दू धर्म का अर्वाचीन स्वरूप समाज की उपज मात्र है वह उस धूली की भाँति है जो कालक्रम में अपने आप ही जाती है। इस विकार ने हिन्दू चेतना को जर्जर और मृतप्राय कर उसे असंतुलित बना दिया है। अतः यह प्रत्येक धार्मिक का कर्तव्य है कि वह धर्म को ज्यों का त्यों ग्रहण न करे। धर्म वह नहीं है जो कि विविध विचारों परिपाटियों के रूप में प्रचलित है बल्कि वह जिसका कि ये प्रतीक हैं। धर्म के बाहरी घेरे, जिनके या प्रचलित आकार को सत्य मानना भूल है। न केवल हिन्दू धर्म वरन् किसी भी धर्म को उसके प्रचलित आकार में पूर्ण सत्य मानकर उसे आमूल बुरा या भला कहना अपने ही ज्ञान के छिछलेपन को अभिव्यक्त करना है। हमें धर्म के आन्तरिक सत्य एवं शाश्वत आधार को समझना चाहिए। इस दृष्टि से राधाकृष्णन जब पूर्वी धर्म का परीक्षण करते हैं तो वे उन उसकी दुर्बलताओं के अतिरिक्त स्पृहणीय और वांछनीय पाते हैं। उनकी यह धारणा है कि पूर्वी धर्म के अंतर्निहित सत्य को आत्मसात् किए बिना मानवता जी नहीं सकती है। इस धर्म में प्रचंड बल है विराट् जीवनी शक्ति है। यह वैज्ञानिक बुद्धि का जीवन सत्य से साक्षात्कार करा सकता है। उसके अनुभवों और आविष्कारों को जीवन निर्माण में लगा सकता है। विज्ञान अपने आप में महान् है और उसके अन्वेषण महत्तर पर लक्ष्यहीन बुद्धि इन महान् अन्वेषणों को पूर्ण न मिला रही है। बिना उचित मार्गदर्शन के विज्ञान [illegible] में भटक गया है—उसने भौतिक सुख-सुविधा तथा शक्ति की उन अधीनता को स्वीकार कर लिया है जो आत्मविनाशक है। [illegible] चेतना के स्तर पर अधिष्ठित है। यह अवश्य है कि इसे निरपेक्ष निष्क्रियता तथा आत्मसमर्पण के [illegible] ने पराधीन कर दिया है। इन कारणों की कालिमा से इसे मुक्त करने के लिए सत्य का यथारूप, यथार्थ और स्वयं सिद्ध ज्ञान प्राप्त करना होगा जिसके लिए वैज्ञानिक तथा आलोचनात्मक बुद्धि की उचित सहायता लेनी होगी। धर्म की वैज्ञानिक व्यवस्था के कठिन

सकता है क्योंकि हिन्दू विचार आधुनिक मानव की आत्मा की उन्नति के लिए शाश्वत मूल्य युक्त जीवन्त शक्ति है।

राधाकृष्णन का यह कथन हिन्दू धर्म के पाश्चात्य आलोचकों को प्रिय नहीं है। वे कहते हैं हिन्दू धर्म रूढ़िग्रस्त निरर्थक और अन्धविश्वासग्रस्त है। उसका दृष्टिकोण अभावात्मक अव्यावहारिक अमानवतावादी पलायनवादी और भाग्यवादी है। वह सक्रिय मानव मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है। उसमें जीवन को शक्ति देने की प्रेरणा नहीं है। वह निराशावादी निष्क्रिय और गतिशून्य है। राधाकृष्णन का बौद्धिक कुठार उन सभी पाश्चात्य विचारकों का खण्डन करता है जो भारतीय दर्शन एवं मूलतः हिन्दू धर्म को अपौरुष और मृत कहते हैं उसके पुनर्जीवन को असम्भव मानते हैं। राधाकृष्णन का अपने धर्म के प्रति प्रेम और ममत्व सहज तथा संस्कारजन्य होने के साथ ही दार्शनिक और बौद्धिक है। वे हिन्दू धर्म के सभी तत्वों के अन्ध उपासक तथा प्रशंसक नहीं हैं। हिन्दुत्व के नाम पर जो भी स्वीकृत या प्रचलित है उसे वे यथार्थात्मक नहीं मान लेते हैं। उसकी सीमाओं को वे समझते और स्वीकार करते हैं किन्तु उनका कहना है ये सीमाएँ असाध्य असमाधेय और हास्यास्पद नहीं हैं। हिन्दू धर्म के मूलतत्व से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में ये वे सीमाएँ हैं जिनसे विश्व का कोई भी धर्म अछूता नहीं है ये कालजन्य सापेक्ष तथा मानव दुर्बलता जनित हैं। विश्व के धर्मों का इतिहास बताता है कि प्रत्येक धर्म चाहे उसका आधार सत्य कितना ही व्यापक और महान हो, कालान्तर में मर्यादाओं और कुरीतियों से आक्रान्त हो जाता है। यदि हिन्दू धर्म आज अपने प्रचलित रूप में अलौकिक अंधक और अव्यावहारिक हो गया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। महत्वपूर्ण यह है कि उसका अंतर्तत्व कैसा है। राधाकृष्णन सिद्ध करते हैं कि उसका अन्तर्तत्व सत्यम् शिवम् तथा सुन्दरम्पूर्ण है। पाश्चात्य विचारकों की आलोचना यदि कहीं टिक पाती है तो इसके बाहरी रूप के सम्बन्ध में जो कि धर्म का छिलका है न कि उसकी आभ्यन्तरिक चेतना। धर्म के बाह्य स्थूल या प्रचलित नाम पर

सामाजिक संदर्भ के अनुकूल धर्म की पुनर्व्याख्या करना प्रत्येक दार्शनिक का कर्तव्य है। प्राचीन सत्य को नवीन रूप देना अथवा उसे वर्तमान से युक्त करना आवश्यक है ताकि वह व्यावहारिक कठिनाइयों प्रस्तुत युग्मि बातों उपस्थित जीवन समस्याओं को हल कर सके एवं मनुष्य को उचित ढंग से जीना सिखा सके। वर्तमान से असंयुक्त सत्य सत्य होने पर भी निरर्थक है। न हम अतीत को भूल सकते हैं और न वर्तमान को छोड़ सकते हैं। अतीत नींव या मूल है तो वर्तमान विकास है जीवन है। भूत भविष्य और वर्तमान मानवता के विकास की अविच्छिन्न एकता में बँधे हैं। उन्हें एक ही सत्य की अविभाज्य स्थितियों के रूप से समझना होगा। भूत को उचित प्रकार से अपनाकर ही वर्तमान जी सकता है और वर्तमान ! उसके विकास और पूर्णता का अधिकारी भविष्य है। राधाकृष्णन का दार्शनिक इसे अपना लक्ष्य मानता है कि वह प्राचीन को उसकी परम्पराओं के बोझ से मुक्त कर उसके शाश्वत सौन्दर्य को निखार दे। यह दिखाता दे कि प्राचीन नवीन एवं विज्ञान के साथ समन्वित होकर ही प्राणों से स्पंदित एवं पुनर्जीवित हो सकेगा। दर्शन जीवन का सहचर है। उसे आज की सभ्यता वैज्ञानिक संस्कृति राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों औद्योगिक और प्राविधिक योग्यताओं से युक्त होना होगा। दर्शन न तो जीवन की उपेक्षा कर सकता है और न भावावेश के साथ उसमें डूब ही सकता है। वह न्यायाधीश है। उसे वीतरागी की भाँति निर्लिप्त और न्यायोचित भाव से जीवन्त समस्याओं पर विचार करना होता है। भारतीय धर्म में यह दुर्बलता आ गई है कि उसने यथार्थ और वर्तमान से पीठ फेर ली है—जीवन्त उपस्थित युक्तियों को सुलझाने के बदले उनकी ओर उसने आँख मूंद ली है। इसका मूल कारण हमारी सदियों की दासता है। किन्तु दासता के नाम पर दर्शन को दोषमुक्त नहीं माना जा सकता। इस दोष से मुक्त होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिमयुक्त श्मशान की मरमशान है मृत है पुनर्जीवन की क्षमता से रहित है।

विश्व के विभिन्न धर्मों का इतिहास साक्षी है कि धर्म समकालीन

राधाकृष्णन का कहना है हिन्दू धर्म स्वस्थ कर्मशील प्राण शक्ति से ओतप्रोत है। सदियों की पराधीनता परिस्थितिजन्य अनाचार और कुंठा ने हिन्दू मानस को इतना निढाल कर दिया है कि वह अपने धर्म की शक्ति और क्षमता से अनभिज्ञ हो गया है। वह उससे प्रेरणा ग्रहण नहीं कर पा रहा है। हिन्दू धर्म का मूलतत्त्व सशक्त है। वह वर्तमान के साथ चरण बढ़ाकर चल सकता है। वह प्रत्येक कठिनाई में सहायक हो सकता है। जीवन विकास में सक्रिय योग दे सकता है। हिन्दू धर्म को दुर्बल माननेवाले राधाकृष्णन के इस कथन से क्षुब्ध हैं। वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जो कुछ भी अच्छाइयाँ राधाकृष्णन हिन्दू धर्म में देखते हैं वे हिन्दू धर्म में नहीं हैं, ईसाई धर्म में हैं। राधाकृष्णन का दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण है। वे हिन्दुत्व के कट्टर समर्थक होने के कारण उसे उन गुणों से युक्त कर देते हैं जो उसे छू भी नहीं गए हैं। सत्य यह है कि राधाकृष्णन के ये आलोचक अपने मत के अनन्य समर्थक हैं। वे धर्मोन्मत्त हैं और अपने ही धर्म की ध्वजा उन्हें प्यारा है। इन ईसाई धर्मावलम्बियों का कहना है कि हिन्दू धर्म अपने मूलरूप में प्रगतिशील नहीं है। यह ईसाई धर्म की विशेषता है। ईसाई धर्म से प्रभावित होकर राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म में बलपूर्वक गत्यात्मकता आरोपित की है। उसके पुनर्जीवन और गतिशील स्वरूप की चर्चा की है। गत्यात्मकता ईसाई धर्म की थाती है न कि हिन्दुत्व की। राधाकृष्णन का कहना है कि हिन्दुत्व के ऐसे आलोचकों ने हिन्दुत्व को समझा ही नहीं है और न वे उसे समझने का ही प्रयास करते हैं। अंग्रेजों ने हिन्दुत्व को समझना नहीं चाहा क्योंकि वे सोचते हैं कि उन्होंने भारत पर विजय ही प्राप्त नहीं की है वरन् उसे समझ भी लिया है। ईसाई मिशनरियों ने अपनी पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति द्वारा अपनी सत्यान्वेषिणी बुद्धि को कुंठित कर दिया है। वे अपने धर्म के यशोगान के आगे कुछ नहीं चाहते हैं। हिन्दू धर्म की कटु आलोचना करनेवालों में ईसाई धर्म के प्रचारक ही प्रमुख हैं और वे स्पष्ट ही अपने धर्म की श्रेष्ठता के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार नहीं

कर सकते हैं। हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म के मूल तत्वों में परम भिन्नता दिखाते हुए। वे ईसाई धर्म की प्रशस्ति में मग्न हैं। उनका कहना है कि ईसाई विचारधारा गतिशील और सृजनात्मक है। यह मानवतावादी है। यह विश्व की वास्तविकता और जीवन की प्रयोजनीयता को दृढ़तापूर्वक स्थापित करती है। इसके विपरीत हिन्दू विचारधारा विश्व की वास्तविकता का निराकरण करती है। यह परलोकवादी है। यह जीवन के प्रति निराशावादी वैराग्यवादी और पलायनवादी दृष्टिकोण को अपनाती है। उसका जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त कर्म और विचार के स्रोतों को विषाक्त कर देता है एवं मृत्यु और निष्क्रियता को बढ़ावा देता है। राधाकृष्णन हिन्दू धर्मावलम्बी अवश्य हैं पर उनका धर्म मिशनरी का धर्म नहीं है वह बुद्धिवादी दार्शनिक का धर्म है। वह संकीर्णता से परे और निष्पक्ष है। राधाकृष्णन हिन्दू धर्म की महानता और हीनता के प्रति पूर्ण सजग हैं। उनका कहना है कि हिन्दुत्व की हीनता उसकी विशिष्टता नहीं है। जिस भाँति विश्व के सभी धर्म कालक्रम में संकीर्णता पूर्वाग्रह तथा अंधविश्वास से घिर गए हैं उसी भाँति हिन्दूधर्म भी अपनी विशुद्धतामें निर्मल होने पर भी काल के काल चक्रों में पड़ गया है। उसकी दुर्बलताएँ काल के प्रति अबोधता और परम्परा की उपज हैं न मौलिक नहीं हैं। उसके यथार्थ से अवगत होने के लिए हमें उसके विशुद्ध रूप को समझना होगा। हिन्दू धर्म का मूल रूप व्यापक है दृष्टिकोण व्यावहारिक है चिंतन निर्भय और गहन है। उसने कथोपकथन शैली एवं प्रश्नोत्तर पद्धति द्वारा अपने मत की स्थापना करके अपनी उदार बौद्धिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। वह चेतना की सत्यता पर आधारित है। चेतना का धर्म वैयक्तिक स्वतंत्रता विश्वबंधुत्व और मानवता का धर्म है।

आधुनिक युग वैज्ञानिक स्वतन्त्रता का युग है। यह विज्ञान और बुद्धि का युग है। शिक्षा के पुनरुत्थान तथा वैज्ञानिक प्रगति ने धर्म चिंतन और भावना के क्षेत्र में एक नवीन ही वैज्ञानिक स्वतन्त्रता का भाव जाग्रत किया

है। आज का व्यक्ति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रति सचेत है। वह शास्त्र और अधिकार के सम्मुख विनत नहीं है। उसकी बुद्धि का अनुशीलन आवश्यक है। तर्कबुद्धि की श्रेष्ठता को मानने वाला मानस हिन्दू धर्म के अद्वैतवाद का विरोधी है। वैज्ञानिक बुद्धि के अनुसार अद्वैतवाद को मानना अन्ततः रूप से व्यक्तित्व की अवहेलना करना है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण करना है। राधाकृष्णन ऐसे बुद्धिवादी तर्कों की निस्सारता सिद्ध करते हैं। हिन्दू धर्म का आलोचनात्मक परीक्षण करके वह स्पष्ट कर देते हैं कि हिन्दू धर्म वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। उसने व्यक्ति को नगण्य नहीं माना है प्रत्युत व्यक्ति की श्रेष्ठता को ही उसने 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अभिव्यक्ति दी है। व्यक्ति की पूर्णता के लिए ही धार्मिक जीवन अनिवार्य है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का स्थापन करते हुए भारतीय ऋषियों ने मनन चिन्तन निदिध्यासन एवं आत्म-प्रमाद को आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक माना है। वही सत्य वरणीय है जो आत्म-निर्धारित आत्म-परीक्षित और आत्म-संचित है। हिन्दू धर्म की प्रश्नोत्तर विधि भी इस बात का प्रमाण है कि उसने सत्य को अंध मान्य का विषय नहीं माना है। उसके अनुसार सत्य आत्म-साक्षात्कार का विषय है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जो अनेक सिद्धान्तों का उदय मिलता है वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण ही है। प्रत्येक जिज्ञासु ने
समझने के प्रयास में एक स्वतन्त्र सिद्धान्त को जन्म दि
की भिन्नता हिन्दू धर्म के अधिकारी
इसने सदैव चिन्तन मनन और मन्थ द
तथा परिस्थिति के अनुरूप अपने क
ही अनेक धर्मों और सिद्धान्तों के
एक विशेषता यह भी है कि ५७
सहयोगी पूरक एवं पर्यायवाची ५८
अमूर्त अयथार्थ और अप्राकृतिक
मानवतावादी नैतिक आचरण है

भी धर्म को बार-बार रूढ़िवादिता तथा अविवेक के गर्त में गिरने से बचाया है तथा उसे बुद्धिसम्मत, व्यापक और सहिष्णु बनाकर नवीन तत्त्वों का समावेश करने की शक्ति प्रदान की है। दर्शन की सत्यान्वेषिणी बुद्धि ने धर्म को सदैव सजग रखकर उसमें यथानुकूल परिवर्तन किए हैं। परिणामतः हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हमें एक नहीं अनेकों धर्म मिलते हैं। धर्मों की अनेकता हिन्दू धर्म के सारतत्त्व की रिक्तता की द्योतक नहीं है और न उसके अनेक देवों के मध्य भी व्यापकता किसी जादूगर के जादू की याद दिलाती है। हिन्दुत्व न तो दन्तकथा और तत्त्वदर्शन का सम्मिश्रण है, न वह तत्त्वज्ञान द्वारा परिष्कृत भाग्यवाद ही है। यह व्यापक दर्शन है। व्यापक दर्शन में सभी भूत-जादू भी—प्रवेश कर सकता है। उसकी विशेषता यह है कि वह विभिन्न तत्त्वों को ज्यों का त्यों ग्रहण न कर उनका उन्नयन कर देता है। काला जादू और दर्शन के जादू में यही महान् अन्तर है। इस अन्तर के कारण ही हिन्दुत्व को जादू का समावेश करने के लिए लज्जित नहीं होना पड़ता है। वह इस बात पर गर्व ही कर सकता है कि निम्न से निम्न को भी उसकी महानता उठा देती है। हिन्दुत्व प्राकृतिक शक्तियों को भी अपने भीतर समेट लेता है। वह उनका मानवीयकरण करके दिव्यीकरण कर देता है और अन्त में उस परम सत्य में मिला देता है जो एक और सर्वव्यापी है जो सभी प्राणियों की आन्तरिक आत्मा है।

हिन्दुत्व में जो अनेक धर्म मिलते हैं उनके लिए उसे सिर झुकाने की आवश्यकता नहीं है। उसका मस्तक उन्नत है। धर्मों की अनेकता उसकी विकास और उदार प्रवृत्ति की सूचक है। विभिन्न धर्म उसके आध्यात्मिक विकास के विभिन्न सोपान हैं। हिन्दुत्व रूढ़िवादिता और कट्टरता का विरोधी है। उसने सदैव परिस्थितियों की आवश्यकता, विकास और समय की मांग के अनुरूप अपने को बदल कर नियम और प्रणाली में परिवर्तन किया है। जब और धर्मों की अनेकता सुनने में विचित्र-सी लगती है एवं उसकी दुर्बलता का चिह्न प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में वह

है। आज का व्यक्ति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रति सचेत है। वह आस्था और अधिकार के सम्मुख विनत नहीं है। उसकी बुद्धि का अनुमोदन आवश्यक है। तर्कबुद्धि की श्रेष्ठता को मानने वाला मानस हिन्दू धर्म के अद्वैतवाद का विरोधी है। वैज्ञानिक बुद्धि के अनुसार अद्वैतवाद को मानना अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तित्व की अवहेलना करना है; वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण करना है। राधाकृष्णन ऐसे बुद्धिवादी तर्क की निस्सारता सिद्ध करते हैं। हिन्दू धर्म का आलोचनात्मक परीक्षण करके वह स्पष्ट कर देते हैं कि हिन्दू धर्म वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। उसने व्यक्ति को नगण्य नहीं माना है प्रत्युत व्यक्ति की श्रेष्ठता को ही 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अभिव्यक्ति दी है। व्यक्ति की पूर्णता के लिए ही धार्मिक जीवन अनिवार्य है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भारतीय ऋषियों ने मनन चिंतन निदिध्यासन एवं आत्म प्रयास को आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक माना है। वही सत्य वरणीय है जो आत्म-निर्धारित आत्म-परीक्षित और आत्म-सञ्चित है। हिन्दू धर्म की प्रश्नोत्तर विधि भी इस बात का प्रमाण है कि उसने सत्य को अंध आस्था का विषय नहीं माना है। उसके अनुसार सत्य आत्म-साक्षात्कार का विषय है। भारतीय दर्शन में अन्तर्गत जो अनेक सिद्धान्तों का संगम मिलता है वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण ही है। प्रत्येक जिज्ञासु ने सत्य को स्वयं समझने के प्रयास में एक स्वतन्त्र सिद्धान्त को जन्म दिया है। सिद्धान्तों की विभिन्नता हिन्दू धर्म के रूढ़िवादी न होने को ही सूचित करती है। इसने सर्वदा चिन्तन मनन और नव्य बोध से अपने को युक्त कर देश काल तथा परिस्थिति के अनुरूप अपने को परिवर्तित किया है। यह परिवर्तन ही अनेक धर्मों और सिद्धान्तों के आविर्भाव का कारण है। हिन्दुत्व की एक विशेषता यह है कि इसमें धर्म और दर्शन सदैव एक दूसरे के सहगामी, पूरक एवं पर्यायवाची रहे हैं। धर्म ने दर्शन को कोरे चिन्तन के अमूर्त, अगोचर और अतार्किक के स्वप्नलोक में विचरने नहीं दिया। उसे मानवता तथा नैतिक धरातल से असम्बद्ध नहीं होने दिया। दर्शन ने

न्यायोचित, विवेकसम्मत और स्लाघनीय है। जीवन एक विकासक्रम है। उसका धर्म पत्थर की लकीर नहीं हो सकता। राधाकृष्णन का कहना है कि हिन्दू धर्म किसी निश्चित कट्टरवादी मत का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। वह आध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियों का व्यापक तथा जटिल किन्तु सूक्ष्म ऐक्य पुंज है। वेदों के प्रति उसका भाव अंधविश्वास और अलौकिक श्रद्धा का नहीं है। उस आस्था और विश्वास का है जो निष्पक्ष आलोचना का परिणाम है। उसने संकुचित परम्परा को स्वीकार नहीं किया है। वह परम्परा के उस पक्ष के प्रति विनत हुआ है जिसमें इन्द्रिय-बोध और अनुभव के प्रमाण से अधिक श्रेष्ठ तात्त्विक संपत्ति है। हिन्दू धर्म किसी खास मत का प्रतीक नहीं है—वह अनेक धर्मों का संगम है। उसने सभी धर्मों को मान्यता और आदर दिया है। वह जानता है कि सभी परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। जिस भाँति सभी नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी भाँति वह सभी धर्मों के व्यापक सत्य को अपने में सम्मिलित कर लेता है। राधाकृष्णन का कहना है कि हिन्दुत्व में जहाँ तक धर्मों के सामान्य मतों का प्रश्न है उसमें ऐक्य नहीं है किन्तु उसके सामान्य लक्ष्य का ऐक्य है। धर्मों की अनेकता विश्व की विविधता के अनुरूप है। यदि एक ही मत ने अन्य मतों को अपने अन्दर विलीन कर लिया होता तो विश्व उससे निर्धन हो गया होता। भगवान् समृद्ध समष्टि चाहते हैं न कि रंगहीन एकरूपता।

हिन्दुत्व का पाश्चात्य विचारकों ने सर्वाधिक आक्षेप इस बात पर किया है कि उसका दृष्टिकोण वैराग्यवादी है। उसने पलायन को अपनाया है। मायावाद और परलोकवाद के नाम पर अकर्मण्यता का पोषण किया है। वह मानव-कल्याण से विरत है। राधाकृष्णन इस आलोचना को पूर्णतः असत्य मानते हैं। उनका कहना है कि इसके विपरीत हिन्दुत्व ने कर्मण्य भाव का पोषण किया है। हिन्दू धर्म के कटु आलोचक एवं ईसाई प्रचारक यह भूल जाते हैं कि हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म में मूल अन्तर धार्मिकता का नहीं है। वह अन्तर धर्म और आत्म-समर्पण भावना

है। सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्म है। उसकी विविधता तथा अनुरूपता में शाश्वत के सौंदर्य का आनन्द लेना धर्म है। अतः धार्मिक वह है जो जीवन के कार्य-कलापों से मुँह नहीं मोड़ता। हिन्दू धर्म विवेकसम्मत नैतिकता है। नैतिकता सदाचार और धर्म एक ही हैं। सद्गुण ज्ञान है। प्रज्ञा शील द्वारा व्यक्त होती है। शील अहिंसा प्रेम त्याग अपरिग्रह अस्तेय है। धार्मिक व्यक्ति अपने पड़ोसियों एवं सजातियों के प्रति विमुख नहीं हो सकता है। यदि है, तो वह हिन्दुत्व की आत्मा को नहीं पहचानता है। वह नाम से हिन्दू है कर्म या आचरण से वास्तव में अ—हिन्दू है। हिन्दुत्व ने सर्वत्र ही चिन्तन और कर्म प्रज्ञा और शील को अभिन्न माना है। हम निःसंकोच होकर कह सकते हैं कि हिन्दुत्व विचार की एक प्रणाली से अधिक जीवन का एक मार्ग है। वह विचारों के विषय मे प्रत्येक को पूर्ण स्वतंत्रता देता है किन्तु व्यवहार मे कठोर नियमों का पोषक है। वह धार्मिक मनुष्यता को महत्व नहीं देता है किन्तु आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण उसके लिए सर्वोपरि हैं। उसने अनार्यवादी भावात्मक मूल्यों को जन्म दिया है। धार्मिक बोध वह बोध है जो सभी को समान देखता है सभी में एक ही दिव्य चेतना का प्रकाश देखता है। विश्व में दिव्य प्रयोजन कार्य कर रहा है। व्यक्ति अपनी दिव्यता पूर्णता या मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। किन्तु उसकी पूर्णता सामूहिक एवं सार्वभौम पूर्णता की आकांक्षी है। यदि हिन्दुत्व इतना ठोस और सुस्थिर है तो हिन्दू जीवन में जो कमी दीखती है, उसका क्या कारण है? राधाकृष्णन का कहना है कि यदि जनसामान्य ने अपने स्वार्थ और भ्रमित बुद्धि के कारण हिन्दुत्व के इस आधार को नहीं समझा तो इसके कारण हिन्दुत्व को मूलतः दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। जो सोचते हैं कि हिन्दू धर्म उस जीवन का प्रतिपादन करता है, जो असामाजिक और अमानवतावादी है वे वास्तव मे हिन्दुत्व के शत्रु हैं। हिन्दुत्व ने जो आदर्श और तथ्य ईश्वर और विश्व की व्यापक व्याख्या की है उसके मूल में उसकी मानवतावादी तीव्र प्रेरणा छिपी है। फिर भी वह हिन्दू धर्म की

दुर्बलता है कि वह अपने सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक सामाजिक व्यवहार में परिणत करने में असमर्थ रहा है। हिन्दुत्व के महान् आदर्श समाज की जड़ता और सबल स्वार्थता के आगे निष्क्रिय पड़ गए। चेतना का राज्य वह सपना बन गया जहाँ पाखण्ड प्रवंचना जादू-टोने के बोझ में मनुष्य दब जाता है। हिन्दू धर्म के अनुयायी यह भूल गए हैं कि धर्म ज्ञान शांति और पूर्णता की खोज है। वह शक्ति, धन अथवा प्रतिशोध स्वर्ग की आकांक्षा एवं संकीर्ण स्वार्थों की तृप्ति नहीं है। निम्न प्रकृति के स्वार्थलिप्त व्यक्तियों ने अपढ़ और अज्ञानियों को मन्त्र-तन्त्र के जालों से ठगकर उनकी लोकचेतना को निष्प्राण कर दिया। उन्होंने गलित कर्मकाण्ड को भगवान् इच्छा मानकर स्वीकार कर लिया है। संतों का ज्ञान विनम्रता और प्रेम उनके लिए मूल्यरहित हो गया है। आत्म ज्ञान व बदले प्रवचनों की दया मानवता के बदले संकीर्ण स्वार्थ और सत्य के बदले छलना को उन्होंने पूर्णरूपेण अपना लिया है। कर्मकाण्ड निष्क्रियता में परिणत हो गया है तथा चेतना का जीवन आत्मसार विनाश के पश्चात् तथा त्याग मात्र में। हिन्दू जीवन को वैराग्यवादी और निष्क्रियतावादी प्रवृत्तियों ने जर्जर करने का दोषी यथार्थ में पण्डितों और पुरोहितों का वह वर्ग है जो अन्धभक्त लोगों को मूर्ख बनाकर अपनी जीविका का उपार्जन करता है। इस पाखण्डी वर्ग ने ही लोगों को आध्यात्मिक आत्मविश्वास की जमीन की सामग्री निकालकर उन्हें चेतनाशून्य कर दिया है। वे अपने कर्तव्य को भूल गए हैं। उन्हें अपने आप का विस्मरण हो गया है। वे स्वयं नहीं जानते कि वे क्या हैं और क्या कर रहे हैं। स्वार्थी पुरोहितों के पाठ को व धर्मसूत्र या नीति-वाक्य समझकर दुहराते अथवा व्यवहार व लाते हैं। पुरोहितों और पंडों ने हिन्दू समाज को जिस धार्मिक पतन के गर्त में डाल दिया है उससे देश की अन्य परिस्थितियों ने भी लाभ लिया है। राजनीतिक दासता राष्ट्रीय चेतना की शिथिलता भौतिक वस्तुओं की तीव्रता अपने मूल विश्वास जैसा निज अहंकार तथा धन और शक्ति की लोलुपता, इन सभी ने मिलकर

धर्म को बड़ी हिंसा दी है। राधाकृष्णन का कहना है कि मूल हिन्दू धर्म का अभी तक कोई कुछ नहीं बिगाड़ सका है। उसकी जड़ें हिल भले ही गई हों पर उन्हें समूल नष्ट कोई नहीं कर सकता। वे यथार्थ हैं, वांछनीय और उपयोगी हैं। राधाकृष्णन सन्देहवादी मानस को हिन्दुत्व की महत्ता की चुनौती देते हैं। केवल यही सत्य नहीं है कि हिन्दू धर्म के मौलिक तत्त्व महान हैं प्रत्युत एक दिन विश्व यह भी देखेगा कि मानवता का संरक्षण यही धर्म कर सकता है। यदि मानवता को जीना है तो उसे हिन्दुत्व के अध्यात्मवाद को अपनाना होगा।

राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि हिन्दू धर्म परलोक के विचार से युक्त है। उनका कहना है कि यह गुण अथवा अवगुण हिन्दुत्व में ही नहीं है। सभी धर्मों में परलोक को माना है। सभी में लौकिक और पारलौकिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण है। यही सम्मिश्रण वास्तविक जगत के प्रति विरक्ति और पारलौकिक जगत् के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। परिणामतः जीवन मापने के दो मार्ग प्रमुखतः सभी धर्मों में दीखते हैं—जीवन की स्वीकृति का मार्ग और उसकी अस्वीकृति का मार्ग। ईसाई धर्म के समर्थक प्रशंसक और प्रचारक यह भूल जाते हैं कि जिस निषेधात्मक मार्ग को वह हिन्दुत्व की असाध्य दुर्बलता कहते हैं उससे ईसाई धर्म अछूता नहीं है। वे हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए कहते हैं कि रहस्यवादी पूर्व ने विश्व-जीवन की अस्वीकृति द्वारा पलायन वैराग्यवाद तथा आत्मवादिता को पूर्ण रूप से अपना लिया है। उसका यह वैराग्यवाद मानवतावादी मूल्यों का प्रचार करने में असमर्थ है। ईसाई धर्म ने विश्व-जीवन की स्वीकृति द्वारा सेवापरायणता तथा मानवतावादी प्रेरणा को प्रोत्साहन दिया है। राधाकृष्णन ईसाई और हिन्दू धर्म के स्वस्थ विश्लेषण द्वारा समझाते हैं कि आलोचकों का कथन बालू की भित्ति-सा है। उसका कोई उचित आधार नहीं है। सच तो यह है कि दोनों ही धर्म मानवतावादी और वैराग्यवादी मूल्यों को अपनाये हुए हैं। हिन्दू धर्म को मात्र वैराग्यवादी और ईसाई धर्म को मात्र मानव

धर्म की जड़ हिला दी है। राधाकृष्णन का कहना है कि मूल हिन्दू धर्म का अभी तक कोई कुछ नहीं बिगाड़ सका है। उसकी जड़ें हिल भले ही गई हों पर उन्हें समूल नष्ट कोई नहीं कर सकता। वे शाश्वत हैं वांछनीय और उपयोगी हैं। राधाकृष्णन सन्देहवादी मानस को हिन्दुत्व की महत्ता की चुनौती देते हैं। केवल यही सत्य नहीं है कि हिन्दू धर्म के मौलिक तत्त्व महान् हैं प्रत्युत एक दिन विश्व यह भी देखेगा कि मानवता का संरक्षण यही धर्म कर सकता है। यदि मानवता को जीना है तो उसे हिन्दुत्व के अध्यात्मवाद को अपनाना होगा।

राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि हिन्दू धर्म परलोक के विचार से युक्त है। उनका कहना है कि यह गुण अथवा अवगुण हिन्दुत्व में ही नहीं है। सभी धर्मों मे परलोक को माना है। सभी में लौकिक और पारलौकिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण है। यही सम्मिश्रण वास्तविक जगत के प्रति विरक्ति और पारलौकिक जगत् के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। परिणामत जीवन यापन के दो मार्ग प्रमुखत सभी धर्मों मे दीखते हैं—जीवन की स्वीकृति का मार्ग और उसकी अस्वीकृति का मार्ग। ईसाई धर्म के समर्थक प्रशंसक और प्रचारक यह भूल जाते हैं कि जिस निषेधात्मक मार्ग को वह हिन्दुत्व की सबसे दुर्बलता कहते हैं उससे ईसाई धर्म अछूता नहीं है। वे हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए कहते हैं कि रहस्यवादी पूर्व मे विश्व-जीवन की अस्वीकृति द्वारा पलायन वैराग्यवाद तथा भाग्यवादिता को पूर्ण रूप से अपना लिया है। उसका यह वैराग्यवाद मानवतावादी मूल्यों का प्रसार करने में असमर्थ है। ईसाई धर्म ने विश्व-जीवन की स्वीकृति द्वारा सेवापरायणता तथा मानवतावादी प्रेरणा को प्रोत्साहन दिया है। राधाकृष्णन ईसाई और हिन्दू धर्म के स्वस्थ विश्लेषण द्वारा समझाते हैं कि आलोचकों का कथन बालू की भित्ति-सा है। उसका कोई उचित आधार नहीं है। सच तो यह है कि दोनों ही धर्म मानवतावादी और वैराग्यवादी मूल्यों को अपनाये हुए हैं। हिन्दू धर्म को मात्र वैराग्यवादी और ईसाई धर्म को मात्र मानव

वादी कहना अन्याय है। ईसाई जगत् में मानव-मूल्यों के साथ ही वैराग्यवादी विचारों की भी भरमार है और हिन्दू में वैराग्यवाद के साथ मानववादी मूल्यों के लिए पर्याप्त स्थान है। ईसाई धर्म की मूल चेतना का सूचक 'क्रॉस' आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए दैहिक जीवन का सूली पर चढ़ाने का प्रतीक है। इसके अनुसार यह जगत् आत्मा के लिए बन्दीगृह है, इन्द्रियों के अधीन है। प्राकृतिक मनुष्य की मृत्यु ही आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ है। ऐसी धारणा शाश्वत के प्रति अनुरक्ति और कालापेक्षित के प्रति अरुचि की अग्रगामी है। यह कर्म से अधिक धम चिन्तन एवं आध्यात्मिक जीवन को देती है। इसमें सन्देह नहीं ईसू ने ईश्वर प्रेम द्वारा विश्वबन्धुत्व की भावना को सक्रिय कर दिया है वैराग्यवाद के साथ ही उसने ही प्रबल रूप से मानवतावाद की प्रतिष्ठा स्थापित की है। ईश्वर प्रेम के रूप में विश्वबन्धुत्व की भावना जनसामान्य को अधिक तीव्र और गहन प्रकार से आकर्षित करती है। भगवान् प्रम है। उन्होंने मनुष्यों के प्रति अपने प्रम को अपने एकमात्र पुत्र को संसार में भेजकर प्रकट किया है। यदि भगवान् मनुष्यों को प्यार करते हैं तो *मनुष्यों को भी एक-दूसरे को प्यार करना चाहिए।* भगवान् का प्रेम अपने को तथा अन्य व्यक्तियों के साथ भगवान् को एकता में बाँधता है। ईसाई धर्म सांसारिक जीवन को आत्मा की एकाकी यात्रा कहकर भी उससे विरक्त नहीं होता है। ईश्वरीय प्रेम के आधार पर जीवन के सामाजिक पक्ष को इतर आधार दे देता है। यह विश्वबन्धुत्व मानव प्रम तथा हृदय की पवित्रता का प्रबल समर्थन करता है प्रम तथा अहेतुक त्याग को सद्गुण मानता है। स्पष्ट हो सामाजिक कर्तव्य व्यवहार में इतने स्पष्ट और प्रबल रूप में हिन्दुत्व में नहीं आ सका है। किन्तु जहाँ तक मूल चेतना का प्रश्न है हिन्दुत्व ऐसी धारणाओं से ओत प्रोत है। जीवन का नकारात्मक पक्ष भावात्मक पक्ष का निराकरण नहीं करता बल्कि उसे पूर्णता देता है। धर्मों का स्वस्थ और निष्पक्ष मूल्यांकन बतलाता है कि ये दोनों पक्ष एक ही जीवन-सत्य के दो अनन्य रूप हैं।

लौकिक धारणा की परिपूर्णता ही पारलौकिक धारणा है। इन्हें एक-दूसरे का विरोधी मानना अप्रासंगिक है। यदि हिन्दू धर्म को पाश्चात्य आलोचक मात्र इसलिए हेय कहते हैं कि उनका धर्म निषेधात्मक जीवन से भरता है, तो यह उनका घोर पक्षपात है। सहज तो कोई भी धर्म कालातीत और कालापेक्षित जीवन धारणाओं से मुक्त नहीं है, उस पर कालातीत की धारणा भी अनेक कालापेक्षित ही धारणा है। जीवन का भावात्मक पक्ष सहज ही अभावात्मक पक्ष को जन्म दे देता है। भाव अभाव की क्रीड़ाभूमि ही जीवन है। भावात्मकता अपनी पूर्णता में नकारात्मकता का समावेश करती है। यह अवश्य है कि दोनों में से किसी एक को ही सत्य मानकर दूसरे को असत्य या त्याज्य कहना अनेक कठिनाइयों को जन्म देता है। जो भावात्मक को भूलकर मात्र अभावात्मक में खो जाते हैं अथवा अभावात्मक को भूलकर भावात्मक में लीन हो जाते हैं वे न जीवन को उसकी पूर्णता में समझते हैं और न हिन्दू धर्म को ही। वैराग्यवाद—जैसे अतिवादी सिद्धान्त को वही लोग अपनाते हैं जो वास्तविकता के परात्पर पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं। हिन्दुत्व ने जीवन को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता के साथ यथार्थवाद मूल्यों को भी पर्याप्त मात्रा में अपनाया है। आध्यात्मिक अनुभव जीवन से विमुख नहीं हैं उसी के अभिमुख हैं। वे मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। आध्यात्मिकता कोई ऐसा रहस्य नहीं है जो दुर्बोध अवास्तविक और निर्मूल्य हो। जीवन की सम्पूर्णता ही आध्यात्मिक परिपूर्णता है। यह सम्पूर्ण जीवन का यत्नपूर्वक समर्पित जीवन की ओर बढ़ाना है। हिन्दू धर्म वह जीवन-पद्धति है, जो शाश्वत की खोज करती है। यह विश्वास से अधिक बल आचरण को देती है। धर्म का प्रारम्भ उस चेतना से होता है जो मानती है कि हमारा जीवन केवल हमारे लिए नहीं है वरन् उस महान् जीवन के लिए है, जो हमारा प्रतिपालन कर रहा है तथा धीरे-धीरे प्रस्फुटित एवं विकसित हो रहा है। यह जीवन चेतना का जीवन विश्व-जीवन है। जो इस सत्य को भूलकर अपनी एकाकी आत्मा की

करता है। हिन्दुत्व उस सृष्टि को अवास्तविक नहीं कहता है जिसमें हम हैं, हमारा निवास है। केवल वह इस सृष्टि की व्याख्या मूलगत व्यापक एकता के सन्दर्भ में करता है ताकि मानवता अपने कल्याण को प्राप्त कर द्वंद्वात्मक भेद-बुद्धि के ध्वंसात्मक हाथों से बच जाए।

हिन्दू मनीषी यह भली-भाँति समझते थे कि दर्शन विश्व को असत्य मानकर नहीं चल सकता है। उसका लक्ष्य मानवता को विषमताओं अनाचार, संघर्ष से मुक्त करना है। वे सिद्धान्त जो सृष्टिकर्ता-सृष्टि एकता अनेकता तथा इहलोक-परलोक मे परम विरोध मानते हैं अपने ही विरोधाभासों में खो जाते हैं। विश्व की असत्यता का सिद्धान्त एवं पलायनवाद मानवता की पराजय का द्योतक है—भीरु व्यक्ति जीवंत समस्याओं पर स्वस्थ विचार करने के विपरीत एकाकी धारणा के मूक चिंतन द्वारा अपनी दुर्बलता को छिपाने का असफल प्रयास करते हैं। राधाकृष्णन निःसंकोच स्वीकार करते हैं कि हिन्दू धर्म ने जो एक प्रकार से परलोकवाद वैराग्यवाद एवं आत्मा के अनंत अस्तित्व को महत्त्व दिया है, वह *एकांगी और अनुचित होने के साथ ही उचित दार्शनिक चिंतन का* परिणाम नहीं है। इस संकुचित और अस्वस्थ चिंतन से जब वह ऊपर उठकर देखते हैं, तब उन्हें हिन्दू धर्म में वे सब तत्त्व विद्यमान मिलते हैं, जो एकता और अनेकता व्यक्तिगत और सामूहिक स्पंदन को एक ही तथा तत्त्वनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा को अभिन्न मानती हैं। इस अर्थ में दर्शन अनुभव का अपने-आपसे समझौता है। वह जीवन से भिन्न होते हुए भी उससे विरक्त नहीं है। यही कारण है कि जो दर्शन को सामाजिक घटनाओं अथवा व्यावहारिक समस्याओं से वियुक्त कर देते हैं, वे मात्र ज्ञान-मीमांसा के अमूर्त विचार में खो जाते हैं अथवा तार्किक प्रणालियों के विकास-विस्तार में ही रत होकर दर्शन के विरोधियों को ताना मारने का अवसर देते हैं। उनका कहना सच प्रतीत होता है कि इस प्रकार का दर्शन जीवन की समस्याओं की व्याख्या करने के बदले उनसे दूर भाग जाता है। वह दर्शन का पलायन है। गणित और तर्कशास्त्र के सत्य सार्वभौम होने पर

तो उसके प्रति उदासीन असमर्थ है। पश्चिम को अध्यात्म की प्रकृति ग्रहण ही होगा और पूर्व को विगत रूढ़ि-रीतियों, प्रचलनों, अंधविश्वासों और अनाचार के कीचड़ से अपने को मुक्त करना होगा। अध्यात्म एवं चैतन्य शक्ति का प्रकाश ही विज्ञान की अदम्य शक्तियों को निर्माण की दिशा दिखाएगा। विज्ञान द्वारा उत्पन्न विपत्तियों, विषमताओं और विरोधों को चैतन्य का प्रकाश ही दूर कर सकता है। वही यदि मानवता को जीना है तो मानवता का संबल बन सकती है। विश्व-जीवन और सभ्यता को राष्ट्रीयता, जातीयता अथवा संकीर्णता और विध्वंस से मुक्त कर उसे विश्वात्मा के आँचल में सुरक्षित करने की शक्ति अध्यात्म में ही है। पश्चिम के बारे में राधाकृष्णन का कहना है कि वैज्ञानिक आलोचनात्मक भेद-बुद्धि ने राष्ट्रीयता, पूर्वाग्रहों, संकीर्णता, राजनीतिक प्रणालियों, अनियंत्रित सत्ता-प्रेम, पद की दुर्दमनीय अभीप्सा तथा जीवन की भोगवादी प्रवृत्ति ने मनुष्य को निर्मम बनाकर उसे भावहीन तथा कर्तव्य च्युत कर दिया है। उसका जीवन इस प्रकार से विषादग्रस्त हो गया है। वह पागलों की भाँति भौतिक ऐश्वर्य की खोज कर रहा है। वह लोग विश्व-विनाश की अग्नि को छिपाए हुए हैं। सम्पूर्ण मानव-जीवन पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय अव्यक्त व्यथा में छटपटा रहा है। दानव और पशुत्व रूपी दान दोनों हाथ फैलाए खड़ा है। राधाकृष्णन के अनुसार अब पूर्व का धर्म एवं अध्यात्म ही विश्व जीवन का एकमात्र आश्रय बन सकता है। इस धर्म के मर्म को समझकर ही मानवता जीवित रह सकती है। वे हिन्दुत्व के स्वरूप और अतिमुक्त स्वरूप का सीधा-सीधा विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दू धर्म रीतियों और अंधविश्वासों का समुच्चय मात्र नहीं है न वह शास्त्रीय तथा बौद्धिक अनुसंधानों की ही स्वीकृति है और न विधि-विधानों तथा पर्वों का प्रचलन ही। वह एक प्रकार का जीवन अनुभव है। वह सत्ता के स्वरूप का ज्ञान तथा साक्षात्कार है। वह उस सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव है जो विराट्‌ता है। वह समग्र [illegible] उपासना का आत्मिक [illegible]

अथवा परिवर्तन-विरोधी नहीं है। हिन्दू धर्म में दर्शन का प्रमुख कर्म मोक्ष पुरुषार्थ या व्यक्तित्व की पूर्णता को प्राप्त करना माना है। वह लोगों को वांछनीय जीवन से अवगत कराने के लिए प्रयत्नशील रहा है ताकि जनसामान्य स्वस्थ जीवन व्यतीत करना सीख सकें। इसके लिए उसने धर्मरूपायों पौराणिक आख्यानों तथा महाकाव्यों द्वारा महापुरुषों और विभूतिमानों के चरित्र-चित्रण की सहायता ली है। किन्तु जनसामान्य तक पहुंचने में इसने जो रूप और अर्थ ग्रहण कर लिया वह अहितकर है। सदाचार आत्मिक उन्नति और आनन्द से युक्त न होकर दैवी पुरस्कार से युक्त हो गया। पारितोषिक के लालच या धन-धान्य तथा पारिवारिक समृद्धि के लालच से सदाचार करना दुराचार है। इस प्रकार पुरुषार्थ स्वार्थ और सामाजिक उदासीनता का प्रतिनिधित्व करने लगा है। व्यक्तिगत और सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों राष्ट्रीय दासता तथा स्वार्थीय पंडितों ने हिन्दू धर्म के सामाजिक पक्ष को शिथिल कर दिया है। यह स्पष्ट है कि आज उसे नवजीवन संचार की आवश्यकता है।

राधाकृष्णन का कहना है कि विश्व-जीवन विषाक्त हो गया है विज्ञान ध्वंसात्मक हो गया है। उसे प्रतिद्वंद्विता शक्ति तथा सत्तामोह के दानव ने ग्रस लिया है। धर्म विपण्ण हो गया है। परम्परा पंडितों के स्वार्थ तथा जीवन की परिस्थितियों ने उसे अस्थि-मात्र बना दिया है। धर्म और विज्ञान एवं समस्त विश्व-सभ्यता और जीवन आध्यात्मिक संजीवनी के बिना मृतप्राय है। यदि धर्मनिरपेक्ष विज्ञान सच्चे दार्शनिक को उत्पन्न करने में असमर्थ है तो वस्तुतः धर्म भी सत्य से च्युत हो गया है। वह अच्छा गुण उत्पन्न करने एवं जीवन को नव् प्रेरणा देने में असफल है। दोनों के पतन के मूल में आध्यात्मिक अन्धकार है। अपनी मानवता ने एक ही सत्य को न देख सकने के कारण विज्ञान विश्व-ध्वंस का वाहन बन गया है और धर्म रूढ़ियों में जर्जर हो गया है। दार्शनिक भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं। दर्शन जीवन सत्य को अभिव्यक्ति देने के विपरीत चिन्तन और तर्क की छाया बन गया है। वह जीवन से दूर, बहुत दूर

तो उसके प्रति उदासीन अवश्य है। पश्चिम को अध्यात्म को ग्रहण करना ही होगा और पूर्व को विगत रूढ़ि-रीतियों अन्धानों अंधविश्वासों और अनाचार के कीचड़ से अपने को मुक्त करना होगा। अध्यात्म एवं चैतन्य-मणि का प्रकाश ही विज्ञान की अदम्य शक्तियों को निर्माण की दिशा दिखाएगा। विज्ञान द्वारा उत्पन्न विपत्तियों विषमताओं और विरोधों को चैतन्य का प्रकाश ही दूर कर सकता है। यही यदि मानवता को जीना है तो मानवता का संबल बन सकती है। विश्व-जीवन और सभ्यता को राष्ट्रीयता जातीयता अथवा संकीर्णता और विध्वंस से मुक्त कर उसे विश्वात्मा के आँचल में सुरक्षित करने की शक्ति अध्यात्म में ही है। पश्चिम के बारे में राधाकृष्णन का कहना है कि वैज्ञानिक आलोचनात्मक भेद-बुद्धि ने राष्ट्रीयता पूर्वाग्रहों संकीर्णता राजनीतिक प्रेरणाओं दर्पित सत्ता-मद मद की दुर्दमनीय अभीप्सा तथा जीवन की भोगवादी प्रवृत्ति ने मनुष्य को निर्मम बनाकर उसे आस्थाहीन तथा कर्तव्य च्युत कर दिया है। उसका जीवन सब प्रकार से विषादग्रस्त हो गया है। वह पागलों की भाँति भौतिक ऐश्वर्य की खोज कर रहा है। वह परोक्ष विश्व-विनाश की अग्नि को छिपाए हुए है। सम्पूर्ण मानव-जीवन पारिवारिक सामाजिक राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय अव्यक्त व्यग्रता व अशान्त रहा है। उद्वेग और अणुबम रूपी काल दोनों हाथ फैलाए खड़ा है। राधाकृष्णन के अनुसार अब पूर्व का धर्म एवं अध्यात्म ही विश्व-जीवन का एकमात्र आश्रय बन सकता है। इस धर्म के अंतर्तत्त्व को समझकर ही मानवता जीवित रह सकती है। वे हिन्दुत्व के स्वरूप और अभिव्यक्त स्वरूप का नीर-क्षीर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दू धर्म रीतियों और अंधविश्वासों का समुच्चय मात्र नहीं है न वह शास्त्रीय तथा लौकिक अनुष्ठानों की ही श्रेणी है और न विधि विधानों तथा पर्वों का प्रदर्शन ही। यह एक प्रकार का जीवन अनुभव है। यह सत्ता के स्वरूप का दर्शन तथा साक्षात्कार है। यह उस अपूर्व आत्मा का अनुभव है जो विश्वात्मा है। यह अनुभव भावुक उत्तेजना या आत्मगत कल्पना

नहीं है किन्तु मूल सत्ता के प्रति सम्पूर्ण व्यक्तित्व अथवा सम्यक आत्मा की प्रतिक्रिया है। हिन्दू धर्म ने दर्शन को मनन चिंतन तर्क-बुद्धि एवं ज्ञान का विषय मात्र नहीं माना है। वह सहजबोध अथवा आंतरिक अनुभूति द्वारा सत्य का साक्षात्कार एवं सत्यानुभव है न कि संवेदनजन्य अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान। हिन्दुत्व ने जिस चेतना के धर्म की स्थापना की है उसके सारतत्व को पूर्व और पश्चिम दोनों को समझना और ग्रहण करना है क्योंकि आध्यात्मिक जागरण अथवा धार्मिक पुनरुत्थान बिना मानव अस्तित्व के सम्भव नहीं है। अध्यात्म ही मानवता को मृत्यु-द्वार से वापस ला सकता है। जिस भाँति प्राचीन काल में पश्चिम ने यूनान से बौद्धिक संस्कृति प्राप्त की उसी भाँति आज उसे हिन्दू धर्म से आध्यात्मिक संस्कृति को प्राप्त करना होगा। इसमें संदेह नहीं कि वैज्ञानिक और प्राविधिक उन्नति ने बुद्धि को महत्ता प्रदान कर दी है। व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का नारा ऊँचा कर दिया है और अब वह अंधविश्वासों धार्मिक पुस्तकों तथा धार्मिक व्यक्तियों के आदेशों का अन्धानुकरण करना नहीं चाहता उन्हें संदेह और अविश्वास से देखता है। पर धर्म और आस्था की नींव से उन्मूलित प्राणी खाई से बचकर संकट में गिर गया है। वह विज्ञान के हाथ का कठपुतला बन गया है—उसका जीवन निरुद्देश्य और अचेत सा हो गया है। वह अपने को भूल गया है अपने अन्तर्निहित सत्य का उसे विस्मरण हो गया है वह भूल गया है कि वह एकात्मक आध्यात्मिक विश्व का नागरिक है। प्रतिवाद, प्रतिद्वन्द्विता शत्रुता और घमंड ही उसके प्रिय सहचर बन गए हैं। वैज्ञानिक बौद्धिकता व्यक्ति का विस्मीकरण करने के बदले उसका दानवीकरण कर रही है। धार्मिक परम्पराएं निष्क्रिय हो गयी है। वह मानव का कल्याण करने के विपरीत उसे घृणा का पाठ पढ़ा रहा है। राधाकृष्णन का कहना है कि हमारे पास एक-दूसरे को घृणा करने के लिए पर्याप्त धर्म है किन्तु एक-दूसरे को प्यार करने के लिए नहीं है।

धर्म मूलतः परम सत्य का अनुभव है वह उसका जीवन्त रूप है

सम्बद्ध है। धर्म का कर्तव्य वैज्ञानिक मानव को परिवर्तित कर उसका दिव्यीकरण करना है उसके आत्मबल की वृद्धि तथा पाशविक प्रवृत्तियों का संयमन करना है। उसकी संकीर्णताओं का उन्मयन करना है ताकि वह स्वार्थ में परमार्थ और परमार्थ मे स्वार्थ को देख सके। जब तक व्यक्ति अपने भीतर और बाहर, नीचे और ऊपर, सामने और पीछे एवं सर्वत्र विश्वात्मा को प्रतिबिम्बित नहीं देख पाएगा उसे पूर्ण शान्ति नहीं मिलेगी क्योंकि निम्न अमानवोचित प्रवृत्तियां तथा पाशविक प्रकृति उसे कटुता घृणा विद्वेष आदि से दंशित कर रही है। राधाकृष्णन का विश्वास है कि अकल्पित पूर्णता अबाधित स्वतन्त्रता और अपूर्व आनन्द मनुष्य जाति की पहुँच के भीतर ही है—यदि वह उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हो। जीवन की पूर्णता को समझना ही आध्यात्मिक जीवन है। यह आनन्द, स्वतन्त्रता और पूर्ण समर्पण का जीवन है। सर्वत्र विश्वात्मा का दर्शन करनेवाला व्यक्ति दिव्यानन्द में डूब जाता है। वह सहज ही कर्तव्य की ओर प्रवृत्त हो जाता है। धार्मिक सत्य ही भू जीवन को उस विश्व-चैतन्य का बोध करवाएगा जिसकी मानवता को आजकल मे आवश्यकता है। राधाकृष्णन का कहना है कि हिन्दू धर्म बाह्यत कितना ही खोखला दीखे उसका आन्तरिक तत्त्व महान् और दिव्य है क्योंकि वह आध्यात्मिक है। अपनी आध्यात्मिकता के कारण वह समस्त विश्व का संरक्षक बन सकता है। बिना आध्यात्मिक जागरण के विश्व-कल्याण सम्भव नहीं है। मूलत हिन्दुत्व स्वस्थ और दोषमुक्त है। वह उस विश्वात्मा का अपरोक्ष अनुभव करा सकता है, जिसने वस्तुत मे ही महान् विभूतियों एवं दिव्यात्माओं का भारत में प्रादुर्भाव किया है। इसके अध्यात्म ने ही महान् संकटावस्था मे भी उसे जीवित रखकर नष्ट नहीं होने दिया है। आज आध्यात्मिक पुनर्जागरण की आवश्यकता सम्पूर्ण विश्व को है। यही विनष्ट होते हुए विश्व को बचा सकता है क्योंकि यह उस धार्मिक ऐक्य और धार्मिक बोध का दर्शन है जिसके बिना मनुष्य अपना ही शत्रु हो गया है। जीवन के विभिन्न पहलुओं,

सिद्धान्तों और कार्य-कलापों को एक ही सत्य के स्फुलिंग या अंश मानना विश्व-बन्धुत्व को वरण करना है। यह आत्म-रक्षण के नाम पर रक्षण है। जब तक मनुष्य आत्मा की अनुभूति नहीं कर पाएगा और उसीके लिए रहना नहीं सीखेगा तब तक द्वन्द्व कुण्ठा और शत्रुता उसे प्रताड़ित करते रहेंगे। वास्तव में पूर्ण धर्म की प्रतिष्ठा के नाम पर राधाकृष्णन उस आत्मा की प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करते हैं जो समस्त जीवों का आन्तरिक सत्य है, चराचर का भूमा है। वह व्यक्ति, जो इस सत्य का बोध प्राप्त कर लेगा उसके अन्दर मनुष्यत्व जन्म ले लेगा। वह विज्ञान का उचित उपयोग कर उसे मनुष्यत्व के लिए साधन समझेगा एवं उसकी शक्तियों का निर्माणात्मक प्रयोग करेगा। आज मानवता के सम्मुख भौतिक विकास और समृद्धि की समस्या उतनी ज्वलन्त तथा प्रबल नहीं है जितनी कि मनुष्यत्व तथा मानवता के संरक्षण की है। राधाकृष्णन इस लक्ष्य के लिए आध्यात्मिक मूल्यों एवं आध्यात्मिक धर्म की अनिवार्यता घोषित करते हैं। उनका कहना है कि धर्म अनाचार, व्यभिचार और ध्वंस को चुपचाप नहीं सह सकता। वह विद्रोही है सदाचार का योद्धा है। वर्तमान असंतोष और विद्रोह ने धर्म को ललकारा है। परिणाम स्वरूप विश्व-धर्म एवं विश्व-दर्शन की ऊर्ध्वाभिमुखी लालिमा क्षितिज में दीखने लगी है हमें उसे पहचानना है। मनुष्यों की भावनाओं और वासनाओं के रूपान्तर एव समस्त व्यक्तित्व की साधना द्वारा विश्व धर्म एक नवीन जीवन के लिए वांछित रूप से मानवता का तैयार करेगा। यह नवीन जीवनी विश्व ऐक्य और मानव-बन्धुत्व का वह मूर्तिमान् रूप होगा जिसके लिए सभी वैज्ञानिक समाजशास्त्री और राजनीतिज्ञ असफल प्रयास कर रहे हैं। राधाकृष्णन का कहना है कि धर्म का समारम्भ व्यक्ति में होते हुए भी उसकी परिणति मानव-ऐक्य और विश्व की सजातीयता में है। अतः विश्व का आध्यात्मिक धर्म समस्त मानवों को उस चेतना से युक्त करने की सामर्थ्य रखता है, जो उन्हें एक ही परिवार का सदस्य बना देगी। वसुधैव कुटुम्बकम् का सम्यक बोध ही

सम्बद्ध है। धर्म का कर्तव्य वैज्ञानिक मानव को परिवर्तित कर उसका दिव्यीकरण करना है उसके मानसबल की वृद्धि तथा पाशविक प्रवृत्तियों का संयमन करना है। उसकी संकीर्णताओं का उन्नयन करना है ताकि वह स्वार्थ में परमार्थ और परमार्थ में स्वार्थ को देख सके। जब तक व्यक्ति अपने भीतर और बाहर, नीचे और ऊपर, सामने और पीछे एवं सर्वत्र विश्वात्मा को प्रतिबिम्बित नहीं देख पाएगा उसे पूर्ण शान्ति नहीं मिलेगी क्योंकि निम्न अमानवोचित प्रवृत्तियाँ तथा पाशविक प्रकृति उसे कटुता घृणा विक्षेप आदि से दबित कर रही है। राधाकृष्णन का विश्वास है कि अकल्पित पूर्णता अकल्पित स्वतन्त्रता और अपूर्व आनन्द मनुष्य जाति की पहुँच के भीतर ही है—यदि वह उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हो। जीवन की पूर्णता को समझना ही आध्यात्मिक जीवन है। वह आनन्द स्वतन्त्रता और पूर्ण समर्पण का जीवन है। सर्वत्र विश्वात्मा का दर्शन करनेवाला व्यक्ति विश्वानन्द में डूब जाता है। वह सहज ही कर्तव्य की ओर प्रवृत्त हो जाता है। धार्मिक धर्म ही यू जीवन को उस विश्व-चैतन्य का बोध करवाएगा जिसकी मानवता को वास्तव में आवश्यकता है। राधाकृष्णन का कहना है कि हिन्दू धर्म बाहरा कितना ही खोखला दीखे उसका आन्तरिक तत्त्व महान् और दिव्य है क्योंकि वह आध्यात्मिक है। अपनी आध्यात्मिकता के कारण वह समस्त विश्व का धारक बन सकता है। बिना आध्यात्मिक जागरण के विश्व-कल्याण सम्भव नहीं है। मूलतः हिन्दुत्व स्वस्थ और दोषमुक्त है। यह उस विश्वात्मा का अपरोक्ष अनुभव करा सकता है, जिसने सबमुच में ही महान् विभूतियों एवं विश्वात्माओं का भारत में प्रादुर्भाव किया है। इसके अध्यात्म ने ही महान् संकटावस्था में भी इसे जीवित रखकर नष्ट नहीं होने दिया है। आज आध्यात्मिक पुनर्जागरण की आवश्यकता सम्पूर्ण विश्व को है। यही विनष्ट होते हुए विश्व को बचा सकता है क्योंकि यह उस पारिवारिक-ऐक्य और धार्मिक बोध का दर्शन है जिसके बिना मनुष्य अपना ही पशु हो गया है। जीवन के विभिन्न पहलुओं,

अध्याय ६

चेतना का धर्म

राधाकृष्णन के विश्व-दर्शन का उनके धर्म सिद्धान्त और मायावाद का केन्द्रबिन्दु आत्मा है। आत्मा अथवा चैतन्य ही वह सत्य है जिसका अज्ञान मनुष्य को पशु और जगत् को अवसादपूर्ण बना देता है। वे औपनिषदिक सूत्र 'आत्मानम् विद्धि' के महत्व की विस्तृत तथा गहन चर्चा करते हैं। इसे आज के सन्दर्भ में समझाते हैं, विशेषकर वैज्ञानिक युग की विश्लेषणात्मक ध्वंसात्मक और स्वार्थलिप्त प्रवृत्तियों को ऊर्ध्व मुखी बनाने के लिए उसकी आवश्यकता समझते हैं। उनका कहना है कि मानव मानव-समाज सभ्यता और संस्कृति को यदि जीना है तो उस आत्मा को पहचानकर उसीका जीवन जीना होगा। आत्मा या चेतना का धर्म ही समस्त मानव का एकमात्र सम्बल हो सकता है। वह मनुष्यों की आत्मिक एकता एवं सत्तात्मक एकता का धर्म है, जो सम्पूर्ण मानवता का धर्म है। वह उस मूल चेतना का सूचक है जो सभी में प्रतिष्ठित है। धर्म वह भावना है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने अन्तर का संगठन तथा परम सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त करता है। यह मनुष्य का अभीष्ट परम लक्ष्य दिव्यत्व की ओर विकास है। धर्म मनुष्य की बोधशक्ति को गहन बनाकर उसके जीवन में अधिक व्यापक और स्वस्थ सामंजस्य स्थापित करता है। धार्मिक सत्य का ज्ञान ही मनुष्य जीवन को संतुलित सुस्थिर और दिव्य बना सकता है। यदि मनुष्य इस तथ्य को पहचानने में विलम्ब और भूल करेगा तो आस्थाहीन संघर्षकारी वैज्ञानिक प्रगतिवाद

मानव जीवन के भावात्मक कल्याण के लिए विज्ञान की भौतिक शक्तियों का उन्नयन कर उन्हें साधन बना सकने की क्षमता रखता है। इस बोध को मनुष्यों में जाग्रत करने की शक्ति हिन्दू धर्म में ही है। अतः राधाकृष्णन दृढ़तापूर्वक हिन्दू धर्म एवं उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

पर समस्त मानव जाति में संगठन करने की क्षमता रखता है और उसमें वही सार्वभौम जीवन की आवश्यकता देखता है जो वह स्वयं अपने में अनुभव करता है। ऐसा धर्म सार्वभौम धर्म है जो संकीर्णताओं अविश्वासिता और हठधर्मिता से मन को मुक्त करता है। ऐसे धार्मिक बोध से सम्पन्न व्यक्ति उस विश्व जीवन के प्रति जाग्रत् है जिसकी सभी व्यक्ति, जाति और राष्ट्र विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐसा मनुष्य सर्वत्र एक चैतन्य का प्रकाश देखता है। उसके लिए मनुष्य जाति एक ही सम्प्रदाय है। ऐसा धर्म आत्मा की महत्ता को छूता है, अन्तरतम सत्य का अनुभव करता है। वह उन विचारों तथा भावनाओं का विस्तार है जो एक विश्व संगठन को जन्म देते हैं। राधाकृष्णन का कहना है जब चेतना का प्रकाश इस भाँति जीवन को भीतर से परिवर्तित करेगा तभी वस्तुओं का रूप बदलेगा। मानव का पशुत्व दिव्यत्व में परिणत हो जाएगा। व्यक्ति अपने सचेष्ट प्रयास और संघर्ष द्वारा अपने संकीर्ण अहं पर विजयी हो सकेगा। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सम्यक् संयोजन परिलक्षित होगा। मनुष्य की आकांक्षाओं और साहसिक कार्यों अथवा उसके सम्पूर्ण समन्वित जीवन में एक ही प्रवृत्ति एवं एकता के बोध का प्रकाश दिखाई देगा। ऐसा धर्म आत्मा का समस्त सत्ता के साथ मौलिक एकता का अनुभव है जो तुम मुझमें मैं तुम में कथन द्वारा स्पष्ट होता है। जीवन को निर्मल मित्रता माधुर्य और साहचर्य का अर्थ दे देता है जिसका अभाव मृत्यु है।

राधाकृष्णन के अनुसार आज हमें जिस वस्तु की आवश्यकता है वह धारणाएँ और योजनाएँ नहीं हैं वह मनुष्यों के हृदय में सत्य के प्रकाश का आवाहन है। वह आत्मा की शक्ति एवं आत्मबल है। यह वह अभय बल है जो हमें अपनी स्वार्थी और लोभी कामनाओं का समर्पण करने तथा हमारी अन्तर आकांक्षा के विश्व का संगठन करने में पूर्ण सहायक है। यह लोकतन्त्र को अपनाता है। समानाधिकार को मानता है। 'तत्त्वमसि'— वह तुम हो की प्रसिद्ध उक्ति इस प्रकार के लोकतन्त्रों के मूल सिद्धान्त

उसे मिटा देना।

धर्म सत्य का अन्तर्दर्शन है, वह किसी मत या नियमसंहिता का नाम नहीं है। वह आन्तरिक चेतना का जीवन है जो विवेकसम्मत विचार, सफल कर्म और उचित सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रकट ही व्यक्त होता है। ऐसा धर्म व्यापक धर्म है। वह समीक्षा है किसी विशिष्ट मत सम्प्रदाय या जाति का नहीं है। वह हिन्दू बौद्ध, ईसाई या पारसी धर्म का सूचक न होकर धर्मों के अन्तरतम सत्य का द्योतक है। धर्म का ऐसा व्यापक दृष्टिकोण रूढ़िवादी धर्म को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं करता है। सत्यधर्म विश्व-धर्म एवं विश्व-चेतना है। वह वर्ग परिवार, समुदाय राष्ट्र अन्तर्राष्ट्र वर्ण गोत्र जाति रीति-रिवाज आदि के भेदों को मिथ्या ही नहीं लज्जाजनक मानता है। दिवाकर का प्रकाश उसके सातों वर्णों की एकता का प्रकाश है। वर्णों को एक-दूसरे से अलगकर जिस भाँति भास्कर की ज्योति को नहीं समझ सकते उसी भाँति विविधता के अस्तित्व के बिना आत्मिक एकता सम्भव नहीं है। एकताशून्य विविधता ध्वंसोन्मुखी कोलाहल है।

आध्यात्मिक जीवन किसी समस्या का समाधान नहीं है वह सत्य की अनुभूति अमृतत्व या परम प्रकाश की प्राप्ति है। आध्यात्मिक धर्म का मूलमन्त्र सत्य यही है कि हमारी वास्तविक आत्मा परम सत्ता है। हमें अपने को समझना चाहिए। आत्मस्थित होना ही 'आत्मवर्तन' होना है—आत्मज्ञ व्यक्ति अपना स्वामी है। उसे अपनी आत्मा के आधिक्य में रहना है एवं विश्व कोलाहल में अपने को नहीं भूल जाना है। परमात्मा सर्वत्र है किन्तु अपनी आत्मा में उसकी अनुभूति सरलता से की जा सकती है। यह हमारा ध्येय है कि उसको समझें, उसका तद्‌भावन कर यही बनने का सचेत प्रयास करें। परम सत् सभी में समान रूप से वर्तमान है। जिसने आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह जानता है कि वह असम्बद्ध इकाई नहीं है। यदि धर्म अपने वास्तविक स्वरूप को जन-जन में देखने का बोध है तो यह शाश्वत सत्य की एकता के आधार

को व्यक्त करती है। आध्यात्मिकता सभी व्यक्तियों को समान मानती है। जहाँ तक व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों और प्रतिभाओं का प्रश्न है वे समान नहीं हैं। उनकी मूल समानता चेतना की गहनता में निहित है। प्रत्येक के लिए परम ध्येय को प्राप्त करने के लिए मार्ग खुला है। उपर्युक्त औपनिषदिक सूत्र इस कथन का अनुमोदन करता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतन्त्र चेतना के रूप में समान भाव से आदरणीय है। यह समानता उस सामाजिक विधान की अपेक्षा रखती है जहाँ सभी व्यक्तियों को शिक्षा, कर्म, सांस्कृतिक विकास तथा स्वास्थ्य के लिए समान अवसर मिलेगा। आत्मा का ऐसा धर्म ही राधाकृष्णन के अनुसार, सभी समस्याओं का समाधान कर देगा। यह धर्म कोई विशिष्ट प्रकार का मार्ग नहीं है वरन् व्यापक जीवन का मार्ग है। यह न वैराग्यवाद है और न भोगवाद न वस्तु सत्ता है न नियमानुवर्तन। यह आत्मा का जीवन है दिव्य जीवन है। इसके कर्म दिव्य प्रेरणा से प्रेरित हैं। सच्चे धर्म में वे तत्त्व वर्तमान हैं जो व्यक्ति को जीवन से अलग रखते हुए भी उसे युक्त कर देते हैं। यह जीवन पर चेतना का नियन्त्रण है। चेतना का धर्म कामना को त्याज्य मानता है। मनुष्य को एकता एवं स्वार्थ से ऊपर उठना होगा क्योंकि विश्व का विधान दिव्य है।

आज जीवन में जो अस्तव्यस्तता और विशृंखलता मिलती है उसका वास्तविक कारण आन्तरिक है। हम आत्मा के सत्य को भूल गए हैं। हमारा अन्तर पराजित है। हम सोचते हैं कि मानव स्वभाव की समाप्ति भौतिक और जैविक तत्त्व में है तथा विश्व का पुनर्निर्माण हम वैज्ञानिक या धर्मनिरपेक्ष मानवता के आधार पर कर सकते हैं। मनुष्य ने स्वयं में इस ऊपर धार्मिक चेतना को न्यून कर दिया है। उसने अपनी शक्ति और सम्भावनाओं का अपने ही रूप में अनुमान कर लिया है और उसमें मर्यादित प्रगति प्रदान कर दी है। यह एक नया समाज भी रचना के बीच है। उसका विकास उन नियमों से है जिनसे सत्ता अनुकूल रूप में प्रकाशित हो सकती है जो निश्चित और यथार्थ हैं की स्पष्टता,

एवं भगाने कम्म में होगी। कुछ बौद्धिक सन्देहवादियों ने धर्म को काव्य की श्रेणी में रखकर तिरस्कृत करना चाहा है तो कुछ ने उसे पौराणिक और कुछ ने समाजशास्त्रीय घटना कहकर उस पर आक्षेप किया है। कुछ समाजशास्त्रियों की व्याख्यानुसार धर्म पतित समाज को सम्मोहित करने की औषधि है। आध्यात्मिक जीवन भ्रमवश और भ्रम है। धर्म का काम आचरण की नियमसंहिता सुधार रूप से बना सकती है।

ऐसी आलोचनाओं के प्रति राधाकृष्णन का कहना है इससे परास्त होने की आवश्यकता नहीं है। यह आलोचना का ही युग है। आलोचक-वश किसी तथ्य का स्वस्थ मूल्यांकन के लिए आलोचना नहीं करते प्रत्युत उसके द्वारा अपनी व्यक्तिगत खीझ और कुंठा को प्रतिबिम्बित करते हैं। वे स्वयं नहीं जानते कि वह क्या कह रहे हैं। वे अपने उत्तरदायित्व से विमुख हैं। तथ्य को बिना समझे-बूझे उसकी खिल्ली उड़ाकर करना अपना गौरव समझते हैं। ऐसी आलोचनाओं द्वारा वे मानवता का कितना भारी अहित कर रहे हैं वे इससे अनभिज्ञ हैं। यह जीवन और नियम से सत्य का निष्कासन है। ऐसी आलोचना का परिणाम सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। विश्व उन हिंदुओं से भर गया है जो स्वार्थी और लम्पट हैं। उस धार्मिक अवस्था का साम्राज्य हो गया है जो उद्योगीकरण और पूंजीवाद के सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप पैशाचिक बन गई है। भोगविलास के लिए निरंकुश लालसा जन-जीवन में धर्मरता को प्रोत्साहन दे रही है। लोगों के मन में ईश्वर और आत्मा के प्रति वितृष्णा पैदा हो गई है। वर्तमान विश्व जन-मन के कोलाहल का विषय है। इसमें कुछ भी निश्चित नहीं है। मनुष्यों के पास न कोई सबल है न आश्वासन न निश्चितता ही है। उनका जीवन धर्ममुक्त एवं स्वच्छन्द बन हो गया है। नवयुवकों में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। उनका भाव उपेक्षा और विद्रोहपूर्ण हो गया है। जीवन एक बड़े सरकस की भांति हो गया है जो अमर होते हुए भी बिना नियम विधान तथा संपत्ति के है। राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन के इस अभिशाप का कारण सत्यता का मिटा

करण है। विज्ञान के निषेध ने ही आत्मा के जीवन को असाध्य रोगों से युक्त कर दिया है। आत्मा का धर्म उस निश्चयात्मकता और पूर्ण आश्वासन को देता है जिसे वैज्ञानिक प्रकृतिवाद हेय मानता है। बिना आत्मा के धर्म के व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता वह आश्वासन और पूर्णता चाहता है निर्भरता और सहारा चाहता है।

विज्ञान ने मनुष्य की आस्था का उन्मूलन कर उसके सुख का अपहरण कर लिया है। वह मनुष्य को किसी प्रकार का प्रतिदान नहीं दे पाया है इसके विपरीत उसकी बुद्धि को संदेहवादी और कुतर्की बना दिया है। उसने मनुष्य के सम्मुख धर्म-सत्य को रखकर मात्र भौतिक सुख-सुविधा को ही लक्ष्य बताया है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप में अपूर्ण सत्य है। आध्यात्मिक पूर्णता ही उसे सार्थकता प्रदान कर सकती है। ये गुण हैं यदि आध्यात्मिकता के लिए साधन हैं। विज्ञान ने कट्टर विश्वास और बर्बर अविश्वास के बीच जिस तनाव को उत्पन्न कर दिया है उसका कारण आध्यात्मिक परम्परा का अनस्तित्व है। इस तनाव की मानसिक वेदना ने व्यक्ति को त्रस्त कर दिया है। उसका मन दोनों के बीच पेंग भर रहा है। वह न एक को छोड़ पाता है और न दूसरे को पकड़ पाता है। राधाकृष्णन का कहना है नवीन और प्राचीन मूल्यों में परम विरोध नहीं है। विज्ञान में सामंजस्य और ऐक्य स्थापित करने की क्षमता नहीं है। उसने दोनों के बीच द्वंद्व ही उपस्थित कर दिया है साथ ही प्राचीन मूल्यों का पूर्ण निराकरण करने का असफल प्रयास भी किया है। वह स्वयम् नवीन मूल्यों को जन्म देने में असमर्थ है। जो नवीन मूल्य उसने दिए भी हैं वे प्राचीन से पूर्ण रूपेण असम्पृक्त होने के कारण मानव आत्मा को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहे हैं। नवीन और प्राचीन में उचित संतुलन रख सकने की क्षमता चेतना के धर्म में ही है। वास्तव में नवीन और प्राचीन मूल्यों के सम्पर्क के माध्यम से चेतना ही अपने को अभिव्यक्ति दे रही है। वह स्वप्रकाश है दोनों के विभिन्न रूपों द्वारा अपने को प्रकट कर रही है।

निरुद्देश्य अनिश्चितता और अव्यक्त बाढ़ के प्रवाह में बह रहा है। वह वर्तमान आध्यात्मिक अव्यवस्था नैतिक मूल्यहीनता तथा बौद्धिक स्वेच्छाचारिता से थककर चूर हो गया है। इस विश्व में मनुष्य असहाय अनुभव करने लगा है। उसके एकाकीपन ने उसे मृतप्राय कर दिया है। इस एकाकीपन से निवृत्ति पाने तथा शांति की उन्मत्त खोज से मुक्त होने के लिए वह आस्था तथा विश्वास का सहारा लेने को तत्पर है। मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि ने अध्यात्म पर अविश्वासकर उसे घोर दुःख में डाल दिया है। यह स्पष्ट रहा है उसकी असह्य वेदना उसे पुनः धर्म की ओर उन्मुख कर रही है। वह धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का पुनरुत्थान करना चाहता है। मनुष्य को आज उस धर्म की अनिवार्य आवश्यकता है जो उसके जीवन का सुनिर्देशनकर तथा संदिग्धता और अस्पष्टता से उसके मानस को मुक्तकर उसकी संपूर्ण आस्था को परितोष दे सकता है एवं उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन को अभिन्न एकता में बाँध सकता है। राधाकृष्णन का कहना है कि यह आध्यात्मिक पुनर्जागरण द्वारा ही सम्भव है। यही मनुष्य जीवन का दिव्यीकरण कर सकेगा एवं चेतना का धर्म ही पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापनाकर उसका रूपान्तर कर सकेगा।

आत्मज्ञान से दीप्त जीवन ही चैतन्य का धर्म है। यह जीवन सत्य और सौंदर्य की वाणी है। चैतन्य का बोध उस ज्ञान की प्राप्ति है जो अज्ञान से अमिश्रित है, उस आनन्द का स्रोत है जिसे दुःख की छाया धूमिल नहीं कर सकती। यही वास्तविक स्वर्ग है। वेदना से सिहरती हुई धरती पर चैतन्यात्मक आनन्द एवं स्वर्ग की स्थापना करने के राधाकृष्णन प्रकांक्षी हैं। वे चेतना के धर्म के उद्घोषक हैं। यही धर्म उनके सम्पूर्ण कृतित्व की आध्यात्मिक अनुभूति है। इस धर्म द्वारा वे उस संस्कृति का ज्ञान देते हैं जो विश्व का उसकी समग्रता में आलिंगन कर सकेगा जीवन को गति देकर उसके क्रिया-कलापों को सत्य से अनुप्राणित कर सकेगा। निराशावाद, वस्तुवाद, अभावात्मकता तथा मिथ्यात्व की धारणाओं ने जीवन की एकांगी व्याख्या की है, जो मानव अस्तित्व और विकास के लिए बाधक

है। जीवन का सौन्दर्य उसकी सम्पूर्णता में है। आशा-निराशा भाव-अभाव स्वीकृति-पलायन एवं प्रकाश-अन्धकार की समग्रता को एक दूसरे से विभक्त कर देखना अंतर्दृष्टिविहीन का काम है। आध्यात्मिकता समस्त जीवन में एक ही चैतन्य की ज्योति को देखती है। चैतन्य का विस्मरण ही वर्तमान मनोदशा धार्मिक विडम्बना वैयक्तिक कुण्ठा सामाजिक असमानता तथा संघर्षशील राजनीति कूटनीति के मूल में है। यही पाप धर्मविहीना अनाचार, अधर्म अभाव तथा बर्बरता का जनक है। इसी के कारण धर्म स्वीकृत मत परम्परा और कोरे कर्मकाण्ड के पालन का द्योतक हो गया है। ऐसे धार्मिक वास्तव में भ्रष्ट बुद्धि और अविद्या से पीड़ित होते हैं। सच्चा धर्म चेतना का धर्म है वह आन्तरिक और आत्मिक है। चेतना के गरिमा की प्रशस्ति उन्मुक्त हृदय से करनेवाले राधाकृष्णन चेतना के धर्म को ही मानव-जाति का एकमात्र सहायक संरक्षक और सम्बल मानते हैं। यही मानवता का आदि मध्य और अन्त है। उसकी थाती और जीवन-स्पन्दन है।

राधाकृष्णन का कहना है जीवन आज रहने योग्य नहीं रह गया है क्योंकि मनुष्य अपनी आधार-भूत चेतना को भूल गया है। वे चेतना के धर्म को मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता एवं स्वाभाविक गति मानते हैं। इस गति से जाने-अनजाने में भटक जाने के कारण ही जीवन इतना विषाक्त हो गया है। जीवन-सम्बन्धी विविध समस्याएँ मानव को अत्यधिक विचलित कुण्ठित और दुर्बल कर देती हैं क्योंकि वह उन्हें सत्य की पृष्ठभूमि में नहीं समझ पाता है। हमारा मन सहज ही जानना चाहता है कि जिस चेतना के धर्म को राधाकृष्णन इतना महत्त्व देते हैं जिसे वह सर्वव्यापी मानते हैं उसकी पुष्टि वह कैसे करते हैं? उसकी प्रामाणिकता और वस्तुगत मूल्य को कैसे सिद्ध करते हैं? वे इस धार्मिक धर्म की व्याख्या के लिए व्यक्तिगत या धार्मिक विचारों के पुनरावर्तन अंशों से नहीं करते इसके लिए वह जीवन की विशद व्याख्या तथा विश्व के विविध सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण करते हैं। अपने निष्कर्ष को

विश्व अनिश्चितता और अव्यक्त वायु के प्रवाह में बह रहा है। वह वर्तमान आध्यात्मिक अव्यवस्था नैतिक शक्तिहीनता तथा बौद्धिक स्वेच्छाचारिता से थककर चूर हो गया है। इस विश्व में मनुष्य असहाय अनुभव करने लगा है। उसके एकाकीपन ने उसे मृतप्राय कर दिया है। इस एकाकीपन से निवृत्ति पाने तथा शांति की समस्त खोज से मुक्त होने के लिए वह आस्था तथा विश्वास का सहारा लेने को तत्पर है। मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि ने अध्यात्म पर अविश्वासकर उसे घोर दुःख में डाल दिया है। वह छटपटा रहा है उसकी असह्य वेदना उसे पुनः धर्म की ओर उन्मुख कर रही है। वह धर्म के मूलगत सिद्धान्तों का पुनरुत्थान करना चाहता है। मनुष्य को आज उस धर्म की अविलम्ब आवश्यकता है जो उसके जीवन का मार्गदर्शनकर तथा संदिग्धता और अस्पष्टता से उसके मानस को मुक्तकर उसकी सम्पूर्ण आत्मा को परितोष दे सकता है एवं उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन को अभिन्न एकता में बांध सकता है। राधाकृष्णन का कहना है कि यह आध्यात्मिक पुनर्जागरण द्वारा ही सम्भव है। यही मनुष्य जीवन का दिव्यीकरण कर सकता एवं चेतना का धर्म ही पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापनाकर उसका रूपान्तर कर सकेगा।

आत्मज्ञान से दीप्त जीवन ही चेतना का धर्म है। यह जीवन सत्य और सौन्दर्य की वाणी है। चैतन्य का बोध उस ज्ञान की प्राप्ति है जो प्रकाश से परिपूर्ण है उस आनन्द का स्रोत है जिसे दुःख की छाया धूमिल नहीं कर सकती। यही वास्तविक स्वर्ग है। वेदना से सिहरती हुई धरती पर चैतन्यात्मक आनन्द रूप स्वर्ग की स्थापना करने के राधाकृष्णन पक्षपाती हैं। वे चेतना के धर्म के सन्देशवाहक हैं। यही धर्म उनके सम्पूर्ण दर्शन की आन्तरिक अनुभव है। इस धर्म द्वारा वे उस संस्कृति का ज्ञान देते हैं जो विश्व को उसकी सम्पूर्णता में आलिंगन कर सकेगा जीवन को शक्ति देकर उसके क्रियाकलापों को अन्दर से अनुप्राणित कर सकेगा। जिसका सार समन्वयवाद सर्वात्मकता तथा विश्वात्म की भावनाओं से जीवन की महत्ता व्याख्या की है जो मानव अस्तित्व और विकास के लिए आवश्य

मनुष्य एवं जीवात्मा के दो स्वरूप हैं। उसका आन्तरिक सत्य आत्मा है। पर इस आत्मा एवं सर्वान्तरात्मा को भूलकर वह देहयुक्त होकर अनीशा (असमर्थता) को प्राप्त होता है। इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण मन और विज्ञान एवं देहात्मभाव युक्त जीव शोकग्रस्त हो जाता है। अविवेक-जन्य शोक उसे आक्रान्त कर देता है। 'सदा परस्पर मिलकर रहनेवाले दो सुपर्ण सखा एक ही वृक्ष को आश्रय बनाए हुए हैं। उनमें एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उनके प्रति तटस्थ है। उनका स्वाद न लेकर केवल देखता रहता है। एक निर्भय दर्शक है दूसरा भोक्ता है। भोक्ता जीवात्मा है। देहरूप उपाधिवाला विज्ञानात्मा सुख-दुःख भोगता है तथा नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप परमात्मा दर्शक मात्र है। एक ही वृक्ष अर्थात् देह में आत्मा (जीवात्मा) देहात्मभाव में डूबा हुआ कर्म कर्मफल अविद्या रागादि के कारण मोहग्रस्त सुख-दुःख से संयुक्त है। और यही अपने वास्तविक परमात्मा रूप में देहरूप उपाधि से भिन्न असार कर्मशून्य रागादि से असंस्पृष्ट रहता है। ब्रह्मज्ञानी समस्त प्राणियों के आन्तरिक सत्य में अपनी ही आत्मा देखता है। उसके लिए सब कुछ ईश्वरमय है। अतः वह अनुभव करता है कि सबमें स्थित आत्मा मैं ही हूँ। ऐसे अनुभवी का आत्म-आनन्द विशुद्ध और मुक्त है। किन्तु इस आनन्द से वियुक्त सांसारिक आत्मा विश्व के व्यापारों में लीन हो जाती है। वह उन्हें अपना ही समझने लगती है। अहंकार उसे उनसे युक्त कर देता है—मैं कर्म कर रहा हूँ मैं दुःख भोग रहा हूँ। इस मिथ्यात्व ज्ञान से ऊपर उठकर विशुद्ध आत्मा को पहचानना होगा। विशुद्ध आत्मा भावात्मा से अधिक महान और सत्य है यद्यपि सामान्यतः उसे मानव अज्ञान का आवरण आच्छादित किए रहता है।

सत्यात्मा को पहचानने के लिए बौद्धिक मानसिक संकीर्णता को अतिक्रम करना होगा। सत्य के स्वरूप को छिपाने की दोषी मात्र बुद्धि नहीं है स्वार्थजन्य रागात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं। अज्ञान वास्तव में आध्यात्मिक अंधापन है न कि बौद्धिक भ्रान्ति। आध्यात्मिकता की प्राप्ति

भूति द्वारा प्राप्तकर वह उसे सहजबोध और अनुभूति का प्रशस्त संबल प्रदान कर देते हैं। दर्शन के इतिहास मनीषियों के अनुभवों, भक्तों की साखियों एवं मानव हृदय की पुकार द्वारा वह इस धर्म को उस उत्तुंग शिखर पर खड़ा कर देते हैं जो स्वयंप्रकाश है। चेतना के जीवन को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा का जीवन स्वयं उसका प्रमाण है। यह आध्यात्मिक अनुभव या दिव्य जीवन द्वारा प्रकट होता है। यह अनुभूति का विषय है न कि युक्ति या विचार का। यह अवर्णनीय है। उसकी अवर्णनीयता उसे अलौकिक या आश्चर्य सिद्ध नहीं करती है किन्तु वह धार्मिक अनुभव के स्वरूप पर प्रकाश डालती है। राधाकृष्णन का कहना है चेतना के सत्य पर उनका विश्वास मात्र वैयक्तिक या निजी नहीं है। इसके द्वारा वे हिन्दू धर्म के उस शाश्वत आत्मतत्त्व को नवीन अभिव्यक्ति दे रहे हैं जिसका अनुभव ऋषि-मुनियों एवं चिन्तकों और दार्शनिकों ने किया है, जो व्यक्त और अव्यक्त भाव से सभी के देह, प्राण मन अहंकार में व्याप्त है और जो समस्त विश्व का अधिष्ठान है। "जो वाणी का अविषय और अगोचर है तथा जहाँ से मन सहित वाणी पहुँचकर लौट आती है—उस आत्मा को ज्ञानमीमांसा या तर्क के मानों तक सीमित नहीं रखा जा सकता है। आत्मिक सत्य एवं चेतना के स्वरूप को परिभाषाबद्ध करना सम्भव नहीं है जिसे वाणी प्रकाशित नहीं करती किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है। वही आत्मा है। पर यह अगम्य और दुर्बोध भी नहीं है। इसके अस्तित्व के बारे में जड़वादी और यथार्थवादी प्रमाण देना सम्भव नहीं है एवं इसके अस्तित्व का ज्ञान के विषय की भाँति स्थूल परिचय नहीं दिया जा सकता। यह तो अनुभूति और ज्ञान का आधार है उस ज्ञान के विषय की भाँति नहीं जाना जा सकता। सर्वत्र ही जो सर्वान्तरात्मा व्याप्त है उसे किसी विशिष्ट वस्तु का रूप नहीं दिया जा सकता—वह 'न-इति'—'न इति' अर्थात् 'नेति' है। चेतन-अचेतन सभी की सत्ता उसी के कारण है। व्यष्टि और समष्टि जगत का आधार भी वही है। वही मूल अधिष्ठान तथा भूमा है।

शारीरिक सुख को ही ईश्वर मानने वाला मानव अपनी सृजनशक्ति, बुद्धि विवेक अथवा अपने सर्वस्व की बाजी धनार्जन के लिए लगाए हुए है। भौतिक सभ्यता के शिरोमणि अमरीका के सन् १९६१ के मध्यकाल में प्रकाशित चार कर्मों की रिपोर्ट से किसी भी धर्म प्रबुद्ध मानव को आघात पहुँच सकता है। निस्सन्देह अपने आत्मिक आंतरिक स्वरूप को विस्मृति के गर्त में डालकर मानव ने वैज्ञानिक सभ्यता के महान् आविष्कारों को बीभत्स बना दिया है। आज आवश्यकता है मनुष्य को उसकी वास्तविकता से अवगत कराने की उस चैतन्य ज्योति की ओर उन्मुख कराने की।

चेतना का धर्म आत्मिक एकता का धर्म है। यह धर्म आनन्दमय जीवन की स्वीकृति में है। जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करना न कि उससे पलायन करना धर्म है। भगवान् ही हमारे अस्तित्व का कारण है—वह जीवन का आदि-अन्त आरम्भ-परिणति तथा गति और गन्तव्य है। उसको समर्पित जीवन ही धार्मिक जीवन है। किन्तु इस जीवन के नाम पर दुर्भाग्यवश बाह्याचार प्रमुखता पा गया है। उसने विभक्त मानव एवं दुहरे व्यक्तित्व को जन्म दे दिया है—उसका आचरण सदैव समान नहीं रहता है। जब उस पर आपत्ति आती है तो उसका भीरु हृदय भगवान का आश्रय खोजता है किन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में उसका दूसरा ही व्यक्तित्व उभर आता है वह भगवान की आज्ञा को भूलकर दूसरों का शोषण करता है। उसके स्वार्थ प्रेरित कर्म तथा आस्थाहीन पूजा प्रार्थना अमर्यादित आचरण एवं पतनोन्मुखी जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं। भौतिक सुख अमर्यादित अशांति उथल-पुथल मन की भावनाएँ, क्रोध ईर्ष्या आदि भावना प्रेम की द्योतक नहीं है। मानव व्यक्तित्व का विभाजन तथा कर्मों का बाह्य रूप यह सूचित करता है कि दूसरों को प्रभावित करने के लिए, उनसे मान पाने तथा सामाजिक पद के उपार्जन के लिए ही मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार के आचरण को अपनाता है। वे कर्म दम्भ प्रेरित अथवा ईश्वरीय भावनायुक्त नहीं कहलाते।

सभी दोषों से मुक्त करती है और इसकी कमी सभी से युक्त कर देती है। अतः समस्त दोषों के मूल कारण आध्यात्मिक अंधेपन को दूर करने का सतत प्रयास करना चाहिए। आत्मा को दैहिक और इन्द्रियजन्य अपवित्रता से मुक्त करना ही मानव का मुख्य कर्तव्य है। उसे आध्यात्मिक शिखर पर आरोहण करने का निरंतर प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए उस आध्यात्मिक दृष्टि को जाग्रत् करना होगा जो वस्तुओं को नए दृष्टिकोण आध्यात्मिक ऐक्य के दृष्टिकोण से देखती है। यही दृष्टि वासनाओं की ज्वाला को बुझाकर इच्छाओं के द्वंद्व को शान्त कर जीवन को सुस्थिर और उज्ज्वल बनाएगी। आंतरिक संयोजन वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है। जिसका अन्तर अस्थिर और असंयोजित है वह बाह्य जगत में व्यर्थ ही संयोजन खोजता है। आंतरिक साम्य ही बाह्य साम्य का जनक है। आज जो सर्वत्र कटुता अव्यवस्था स्वार्थ तथा अहं का राज्य छाया हुआ है उसके मूल में आत्मा का अज्ञान है। जब तक आत्मिक ज्ञान की ज्योति अन्दर प्रज्वलित नहीं होती तब तक बाह्य जगत् में व्यवस्था न्याय और औचित्य योजना तथा शांति के लिए योजनाएं बनाना बालू के घरौंदे बनाना है। आत्मा का ज्ञान एवं चेतनात्मा का बोधक आचरण ही मानवता को वर्तमान कठिनाइयों से उबारेगा।

चेतना को समझना एवं तदनुरूप कर्म करना धर्म है। सम्पूर्ण विश्व एवं जीवन में चेतनात्मक सत्य प्रवाहित हो रहा है। समस्त जीवन धार्मिक है। जीवन के विविधाओं का धार्मिक और अधार्मिक वृत्तियों में विभाजन नहीं किया जा सकता। जीवन कर्तव्यमय है धर्मक्षेत्र है। न जीवन को धर्म निरपेक्ष कह सकते हैं न धर्म ही को जीवन निरपेक्ष। दोनों एक अस्तित्व की अभिन्न इकाई हैं। मानव जीवन धर्म आत्मा एवं चेतना का जीवन है। इसी की परिपूर्णता प्राप्त करना मनुष्य का अभीप्सित लक्ष्य और काम्य है। वर्तमान युग कराह रहा है क्योंकि वह मार्गच्युत हो गया है। वैज्ञानिक विचारधारा की आधिभौतिक सभ्यता में रम कर

शारीरिक सुख को ही ईश्वर मानने वाला मानव अपनी सृजनशक्ति, बुद्धि विवेक अथवा अपने सर्वस्व की बाजी पापार्जन के लिए लगाए हुए है। भौतिक सभ्यता के शिरोमणि अमरीका के सन् १९६१ के मध्यकाल में प्रकाशित पाप कर्मों की रिपोर्ट से किसी भी आत्म प्रबुद्ध मानव को आघात पहुँच सकता है। निःसन्देह अपने आत्मिक आंतरिक स्वरूप को विस्मृति के गर्त में डालकर मानव ने वैज्ञानिक सभ्यता के महान् आविष्कारों को वीभत्स बना दिया है। आज आवश्यकता है मनुष्य को उसकी वास्तविकता से अवगत कराने की उसे चैतन्य ज्योति की ओर उन्मुख कराने की।

चेतना का धर्म आत्मिक एकता का धर्म है। यह धर्म भागवत जीवन की स्वीकृति में है। जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करना न कि उससे पलायन करना धर्म है। भगवान् ही हमारे अस्तित्व का कारण है—वह जीवन का आदि-अन्त प्रारम्भ-परिणति तथा गति और गन्तव्य है। उसको समर्पित जीवन ही धार्मिक जीवन है। किन्तु इस जीवन के नाम पर दुर्भाग्यवश बाह्याचार प्रमुखता पा गया है। उसने विभक्त मानव एवं दुहरे व्यक्तित्व को जन्म दे दिया है—उसका आचरण सर्वदा समान नहीं रहता है। जब उस पर आपत्ति आती है तो उसका भीरु हृदय भगवान का आश्रय खोजता है किन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में उसका दूसरा ही व्यक्तित्व उभर आता है वह भगवान की करुणा को भूलकर दूसरों का शोषण करता है। उसके स्वार्थ प्रेरित कर्म तथा आस्थाहीन पूजा-प्रार्थना अधार्मिक आचरण एवं पतनोन्मुखी जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं। बौद्धिक कुतर्क मानसिक अशान्ति उखड़ा-उखड़ा मन मन्द भावनाएँ, क्रोध हठधर्मिता आदि भागवत प्रेम की द्योतक नहीं है। मानव व्यक्तित्व का विघटन तथा कर्मों का बाह्य रूप यह सूचित करता है कि दूसरों को प्रभावित करने के लिए, उनसे मान पाने तथा सामाजिक पद के उपार्जन के लिए ही मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार के आचरण को अपनाता है। ये कर्म अन्तः प्रेरित अथवा स्वकीय स्वभावानुरूप नहीं बन पाते।

ऐसे प्राणी भगवान से अधिक शक्ति को पूजते हैं और उसी के सम्मुख प्रणत रहते हैं। उनका सत्य से अधिक लगाव छल प्रपंच और मिथ्या से होता है। भागवत प्रेम की आड़ में वे मनोकामनाओं की तृप्ति खोजते हैं सस्ती वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। धार्मिक आचरण वह नहीं है जो पुरस्कार और दण्ड की भावना से अथवा दैवी और सामाजिक भय से किया जाता है। भागवत चेतना में रमना उसे अपनाना ही धर्ममय होना है। यही धर्माचरण है।

वही मानव सुखी है जो अन्तःप्रेरणा से औचित्य के नियम को अपनाता है। संकटावस्था में भी उसके पास उसकी सत्यात्मा का दृढ़ अवलम्ब रहता है। उसे किसी प्रकार की विपत्ति विचलित कर तोड़ नहीं सकती। दुःख के सागर में डूबते-उतराते हुए भी वह सत्य चेतना युक्त है। इसके विपरीत प्रचलित एवं निश्चित धार्मिक नियमों तथा रूढ़िवादिता का पालन करने वाला मानव सुखी नहीं है। धर्म निर्धारित नियमों एवं पतनोन्मुखी आस्थाओं का पर्यायवाची नहीं है। वह जीवन है जिसके विकास गति और परिवर्तन अंग हैं। धार्मिक वह है जिसके आंतरिक और बाह्य जीवन में साम्य है; जो दैनंदिन के व्यवसाय तथा मन्दिर के प्रांगण में एक सा आचरण रखता है। अन्य अथवा खण्डित व्यक्तित्व व्यावसायिक क्षेत्र में दानव है तो धार्मिक क्षेत्र में कायर। अपने पाप-मोचन के लिए वह पवित्र पुरोहितों की पूजा करता मनौती मानता तथा दान देता है। मानवता का रक्त चूसने वाले ही अवश्य अहितकर रूढ़ नियमों का अन्धानुकरण करते हैं। यदि धर्म ईश्वर है और ईश्वर सर्वत्र है एवं जगत् ईश्वरमय है तो जीवन के किसी भी क्षेत्र में—चाहे वह व्यवसाय हो अथवा पूजार्चन छल प्रपंच कड़ुवा इन पानी-पलीत के लिए स्थान नहीं है। सर्वत्र न्याय और स्नेह का राज्य ही धर्म की पुकार है। व्यवसायी स्वार्थी और कायर धार्मिक जीवन नहीं व्यतीत करते—वह तो अपने तथा दूसरों को धोखा देने के लिए धार्मिक लबादा ओढ़े रहते हैं। धर्म-अधर्म का यह विरूप समझौता अमान्य तथा निन्द्य है। धर्म

सम्पूर्ण जीवन है, जीवन की आदि मध्य और अन्तिम परिणति है। यह नाना विषयात्मक जगत में एकता का अनुभव है। मन्दिर में चित का स्पन्दन घर में प्रसार का ज्ञान है।

यदि धर्म की धारणा इतनी विशाल है तो मानव दुःखी क्यों है? राधाकृष्णन का कहना है कि मनुष्य ने धर्म की धारणा को भलीभाँति समझने का प्रयास ही नहीं किया है, उसे गम्भीरता से ग्रहण कर आत्मसात् नहीं किया है। परिणामस्वरूप उसका व्यक्तित्व संयोजित नहीं रह गया है। व्यक्ति का विभक्त व्यक्तित्व परिस्थिति के अनुरूप बदलता आचरण उसके तथा समाज के लिए अभिशाप बन गया है। धर्म में दुराव, अलगाव अथवा गिरगिट की भाँति रंग बदलने के लिए स्थान नहीं है। मन्दिर में और व्यावसायिक तथा व्यावहारिक जीवन में एक ही चैतन्य विद्यमान है। अतः चैतन्य के प्रकाश को मात्र मन्दिर में ही देखने वाला धार्मिक नहीं अधार्मिक है। धर्म जीवन श्वास है। जीवन के किसी भी क्षण में घोर संकटावस्था में भी—उससे वियुक्त होना जीवन की हत्या करना है। धार्मिक आचरण से कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता—उससे छुट्टी की कल्पना विरोधाभास है। धार्मिक आस्था और ज्ञान अपनी पूर्णता में आचरणयुक्त है। सम्यक प्रज्ञा और सम्यक शील की इकाई ही धर्म है। यदि हमारा आचरण ईश्वरमय नहीं है यदि हम ईश्वर में नहीं रहते तो हम धार्मिक नहीं हैं। हम मानव की आकृति में पशुत्व को चरितार्थ करते हैं। धर्म उपलब्धि की वस्तु नहीं है, यह धार्मिक होना है। जीवन प्राण शक्ति साधन और साध्य सभी कुछ धर्म ही है।

व्यक्ति का कल्याण धर्माचरण में है। आज आवश्यकता है धार्मिक सत्य को मानव जीवन में पुनः स्थापित करने की। राधाकृष्णन का कथन है कि आत्मा एवं चेतना के धर्म का विश्व में जब पूर्ण संचरण होगा तब मानव जाति अपूर्व आनन्द प्राप्त करेगी। आध्यात्मिक पूर्णता ही वस्तु मानवता को शान्ति देगी। किन्तु आत्मा के धर्म को समझने के लिए क्या करना होगा, किस साधन की सहायता लेनी होगी? किस गुरु की अनुकम्पा

प्राप्त करती होगी ? उनका कहना है कि आत्मा का धर्म आन्तरिक धर्म है। आत्मा प्रत्येक के अन्दर निवास करती है, वह प्रत्येक का आन्तरिक सत्य है। उसे बाहर से प्राप्त नहीं करना है, उसे भीतर खोजना है। धर्म को आत्म-प्राप्त आत्म-परीक्षित और आत्म-मनोनीत सत्य होना चाहिए। रूढ़िवाद पूर्वग्रह तथा अन्धविश्वास युक्त आस्थावादी सामान्य धार्मिक जन की आत्मा की सत्यता के प्रमाण रूप में धर्मग्रंथों तथा पंडितों एवं पूर्वजों के जीवन एवं परम्परागत मान्यताओं का उदाहरण देते हैं। वे भूल जाते हैं कि सत्यज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति है। दूसरे के मत को बिना समझे-बूझे स्वीकार करना आत्मा की स्वतन्त्रता का हनन करना है। आत्मिक स्वतन्त्रता की श्रेष्ठता का वरण करने वाले भारतीय मनीषियों ने प्रश्नोत्तर पद्धति द्वारा तात्त्विक सत्य को आत्मसात् करने का अधिकार प्रत्येक जिज्ञासु को दिया है। दर्शन के क्षेत्र में बिना निदि ध्यासन के श्रवण-मनन अपर्याप्त है। निःसन्देह इसने अनेक मत-मतान्तरों को जन्म दे दिया है। पर सिद्धान्तों की यह अनेकता भारतीय दर्शन के अन्तर्तम्य की रिक्तता शून्यता एवं सारहीनता की सूचक न होकर उसके व्यापक विविधामी भरे-पूरे स्वस्थ स्वरूप की ही द्योतक है।

सत्य आत्मानुभव का विषय है न कि शुष्क तर्क अथवा दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथों के पठन-पाठन मात्र का। धर्मग्रन्थों तथा दार्शनिक काव्यों का व्यापक अध्ययन एवं श्रवण पठन मनन और चिंतन सत्य को समझने में सहायक और मार्गदर्शी है किन्तु सत्य का साक्षात्कार जिज्ञासा लगन और साधना द्वारा ही सम्भव है। बिना स्वयं परीक्षण किए आप्त-वाक्य को परम प्रमाण मानना आत्मा की अवहेलना करना है। किसी विशिष्ट मत या सिद्धान्त को यों ही मान लेना दर्शन नहीं है। दर्शन सत्य का साक्षात्कार है। वह अन्धविश्वास और अलौकिक आस्था नहीं है धार्मिक सत्य है। धार्मिक वह है जो सत्य को समझने की चेष्टा करता है न कि वह जो लकीर का फकीर है। धार्मिक वह है जिसका हृदय उदार, व्यापक और सहिष्णु है न कि वह जो मात्र परम्परावादी है। आत्म-परीक्षण

को महत्त्व देते हुए बुद्ध ने अपने अनुयायियों से बारम्बार कहा कि यदि मेरा कथन तुम्हें मान्य हो बुद्धि द्वारा स्वीकृत हो आत्मा द्वारा सहज सम्मानित हो तभी तुम उसे स्वीकार करना। आत्म-प्राप्त धर्म किसी अद्वितीय शक्ति की वाणी मात्र नहीं है न वह धार्मिक धर्म में ईश्वर प्रदत्त ही है, और न कोई चमत्कार ही। वह मनुष्य द्वारा अनुभूत सत्य है। अतएव मनन निदिध्यासन की परिणति समाधि एवं ईश्वरीय संपर्क है। दिव्य संपर्क एवं अनुभूति ही आत्मिक धर्म एवं सत्य है। यही कारण है कि प्रायः सभी सच्चे धर्मों धर्मग्रन्थों धार्मिकों धार्मिकों तथा सत्य प्रेमियों के आत्मिक अनुभव समान हैं। वे मूलतः एक ही हैं। एक ही आत्मिक सत्य की अभिव्यक्ति हैं। आत्मा का सत्य शाश्वत एवं सनातन है। वह विश्व की थाती है व्यक्ति विशेष की नहीं। मनुष्य की बौद्धिक और स्वभावजन्य सीमाओं से इस वैश्व सत्य को देश-काल वैयक्तिक रुचियों स्वार्थों, अन्धविश्वास और कुतर्क की चक्की में पीसकर विकृत कर दिया है। आन्तरिक एकता का भाव अन्धकार में मन में छिप गया है और विरोध कटुता मैत्र्य आदि ही सर्वत्र व्याप्त हो गया है जिसे मिटना था वह बन गया है और जिसे बनना था वह मिट गया है। आत्मिक सत्य इस धर्म में मिट गया है कि वह विस्मृति के गर्त में पड़ गया है। उसका अस्तित्व अप्रकट है। जिस दिन मनुष्य बाह्याचारों एवं बाह्य विरोधों में भटकते हुए अपने मन को नियन्त्रित कर लेगा उस दिन वह स्वयं अपने अन्तर में पैठ सकेगा। केन्द्रीय सत्य को भूलकर मात्र बाह्याचारों पर विचार करना—यथा माथा ढपना चाहिए या नहीं श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए या अनुचित रहना चाहिए, पूजा की विभिन्न विधियां से तथा शिव एवं विष्णु में किसको पूजना चाहिए इत्यादि-जैसे भूल-भुलैया में भटकना है। इनका मूल्य वहीं तक है जहाँ तक कि वे केन्द्रीय सत्य की पुनः प्राप्ति के लिए उपयोगी साधन हैं। केन्द्रीय सत्य विश्वव्यापी निराकार, असीम और अद्वितीय है। वह आन्तरिक पूर्णता है न कि बाह्य प्राप्ति एवं उपलब्धि।

चेतना का सत्य मनुष्य की पूर्णता—चरित्र की पूर्णता एवं आत्मा की पूर्णता चाहता है। मनुष्य की निम्न प्रवृत्तियों का उन्नयन करके यह सत्य उसे पशुत्व से ऊपर उठाकर दिव्यत्व की प्राप्ति कराता है। उसके आंतरिक और बाह्य जीवन के संतुलन द्वारा उसके सम्यक व्यक्तित्व का विकास करता है। उसे अद्वितीय आनन्द का स्रोत बनाता है। मानव जीवन का लक्ष्य धार्मिक होना है न कि धार्मिक विवादों एवं कटुता संकीर्णता में फँसना। धार्मिक बनने के लिए कल्पित धर्मों का त्याग करना होगा। विश्व को शाश्वत संकल्प एवं शाश्वत लीला का विस्तार मानने वाला धार्मिक ईश्वरीय आनन्द में लीन रहता है—वह जगती के कण-कण में शाश्वत प्रकाश देखता है। वह प्राणिमात्र को प्यार करता है। भगवान का सर्वत्र दर्शन करने वाला प्राणी कर्मत्याग नहीं करता। वह कर्मयोगी बनता है। वह निवृत्ति एवं पलायन को नहीं अपनाता है। समस्त प्रकृति को दिव्य आनन्द मे निमग्न देखने का आकांक्षी होने के कारण वह अनवरत कर्मशील रहता है। उसके लिए विश्राम और कर्म त्याग अस्तित्वशून्य तथा अधार्मिक कर्म है। धार्मिक वह है जो सब प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील है। वह सभी मनुष्यों को अपने समान देखता है। सभी म विश्वात्मा को देखने के कारण वह सभी के साथ आत्मवत् अनुभव करता है और तदनुरूप ही आचरण भी करता है।

धर्म का ध्येय आध्यात्मिक विश्व की पूर्णता प्राप्त करना तथा चेतना की उन निर्माणात्मक शक्तियों का पूर्ण प्रस्फुटन करना है जो अभी अपने विकास मे है। अपने इस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए धर्म को पूर्ण सक्रिय होना है। वह मौन या निष्क्रिय नहीं रह सकता। एक कुशल सजग, योद्धा की तरह वह अधार्मिक सिद्धांतों की रिक्तता, अहंभाव और अहितकर तत्त्वों से जूझता रहता है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के प्रेमी के रूप में धर्म शाश्वत क्रांतिकारी है। जीवन में किसी प्रकार की भी अपूर्णता की स्थिति उसे सन्तोष नहीं दे सकती। धर्म का अर्थ है मानवता की वर्तमान स्थिति से पूर्ण असंतोष तथा नए जीवन के लिए

सक्रिय तैयारी—चाहे वह स्वर्ग के जीवन की धारणा हो चाहे पृथ्वी अथवा पारलौकिक की। धर्म व्यक्ति और समाज में आमूल परिवर्तन चाहता है। वह उससे समझौता नहीं कर सकता है जो अनाध्यात्मिक है। वह तब तक संतुष्ट नहीं होगा जब तक कि वह पृथ्वी पर नवीन सामाजिक व्यवस्था तथा विश्व के राष्ट्रों में धार्मिक न्याय जातीय अनुकूल समानता तथा स्वतन्त्र आध्यात्मिक और बौद्धिक सहयोग एवं सच्ची मित्रता को मूलतः स्थापित न कर दे। आर्थिक न्याय एवं स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति आध्यात्मिक पूर्णता का प्रथम सोपान है। भूखे पेट गोपाल का भजन नहीं हो सकता। नग्न देह तथा उदर ज्वाला से पीड़ित व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर नहीं अग्रसर हो सकता। जब तक देश की ओर निर्धनता दूर न हो जाएगी तब तक किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। ऐसी वर्तमान समाज की स्थिति में व्यक्ति का सारा ध्यान शक्ति सचय करने मे और समय रोटी चिन्ता में नष्ट हो जाता है। जब तक उस समाज की स्थापना नहीं हो जाती जहाँ सभी की स्वाभाविक आवश्यकताओं की सहज पूर्ति हो जाती है तब तक व्यक्ति अपने समय का सदुपयोग नहीं कर सकता। बुद्धि और चेतना के श्रेष्ठ विषयों के प्रति उसकी स्वाभाविक सम्यग्-सी रहेगी। उसे इनकी प्राप्ति के लिए चिन्तन और प्रकाश करने का अवकाश नहीं मिलता। आज आवश्यकता है जीवन में आन्तरिक और बाह्य एवं सम्पूर्ण परिवर्तन लाने की। जीवन प्रणाली में मूलगत परिवर्तन के साथ ही जीवन कला एक नवीन प्रेरणा पाएगी और मानवता अपने ध्येय की प्राप्ति कर सकेगी। इस आमूल परिवर्तन के लिए सामाजिक जीवन तथा सामाजिक संस्थाओं में मात्र बाह्य रूपान्तर करना पर्याप्त नहीं है। उसका आन्तरिक रूपान्तर व्यक्तियों का आध्यात्मीकरण तथा इच्छाओं और वासनाओं का दिव्यीकरण अनिवार्य है। वास्तव में बाह्य स्थिति के पतन का आदि कारण आंतरिक ही स्थिति है। दिव्यत्व के निराकरण से आत्मा पतित हो गई है। धार्मिक सत्य एवं दिव्यत्व के प्रति विमुखता चिन्तनीय और अकालपीड

चेतना का सत्य मनुष्य की पूर्णता—चरित्र की पूर्णता एवं आत्मा की पूर्णता चाहता है। मनुष्य की निम्न प्रवृत्तियों का शमन करके यह सत्य उसे पशुत्व से ऊपर उठाकर दिव्यत्व की प्राप्ति कराता है। उसके आंतरिक और बाह्य जीवन के संतुलन द्वारा उसके सम्यक् व्यक्तित्व का विकास करता है। उसे अद्वितीय आनन्द का भोक्ता बनाता है। मानव जीवन का लक्ष्य धार्मिक होना है न कि धार्मिक विचारों एवं कटुता संकीर्णता में फँसना। धार्मिक बनने के लिए व्यक्तिगत धर्मों का त्याग करना होगा। विश्व को भागवत संकल्प एवं भागवत लीला का विस्तार मानने वाला धार्मिक ईश्वरीय आनन्द में लीन रहता है—वह जगती के कण-कण में भागवत प्रकाश देखता है। वह प्राणिमात्र को प्यार करता है। भगवान का सर्वत्र दर्शन करने वाला प्राणी कर्मत्याग नहीं करता। वह कर्मयोगी बनता है। वह निवृत्ति एवं पलायन को नहीं अपनाता है। समस्त प्रकृति को दिव्य आनन्द में निमग्न देखने का आकांक्षी होने के कारण वह अनवरत कर्मशील रहता है। उसके लिए विश्राम और कर्म त्याग अस्तित्वशून्य तथा अधार्मिक कर्म है। धार्मिक वह है जो सब प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील है। वह सभी मनुष्यों को अपने समान देखता है। सभी में विश्वात्मा को देखने के कारण वह सभी के साथ आत्मवत् अनुभव करता है और तदनुरूप ही आचरण भी करता है।

धर्म का ध्येय आध्यात्मिक विश्व की पूर्णता प्राप्त करना तथा चेतना की उन निर्माणात्मक शक्तियों का पूर्ण प्रस्फुटन करना है जो अभी अपने विकास में है। अपने इस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए धर्म को पूर्ण सक्रिय होना है। वह मौन या निष्क्रिय नहीं रह सकता। एक कुशल अजेय योद्धा की तरह वह अधार्मिक सिद्धांतों की रिक्तता सड़ांध और अहितकर तत्त्वों से जूझता रहता है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के प्रेमी के रूप में धर्म शाश्वत क्रांतिकारी है। जीवन में किसी प्रकार की भी अपूर्णता की स्थिति उसे संतोष नहीं दे सकती। धर्म का अर्थ है मानवता की वर्तमान स्थिति से गंभीर असंतोष तथा नए जीवन के लिए

अन्तिम तैयारी—चाहे वह स्वयं के जीवन की व्यवस्था हो चाहे पृथ्वी अथवा पारलौकिक की। धर्म व्यक्ति और समाज में आमूल परिवर्तन चाहता है। वह उससे समझौता नहीं कर सकता है जो अनाध्यात्मिक है। वह तब तक सन्तुष्ट नहीं होगा जब तक कि वह पृथ्वी पर नवीन सामाजिक व्यवस्था तथा विश्व के राष्ट्रों में आर्थिक न्याय जातीय सन्तुलन समानता तथा स्वतन्त्र आध्यात्मिक और बौद्धिक सहयोग एवं सच्ची मित्रता को मूलतः स्थापित न कर दे। आर्थिक न्याय एवं स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति आध्यात्मिक पूर्णता का प्रथम सोपान है। भूखे पेट गोपाल का भजन नहीं हो सकता। नग्न देह तथा उदर ज्वाला से पीड़ित व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर नहीं अग्रसर हो सकता। जब तक देश की ओर निर्धनता दूर न हो जाएगी तब तक किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। ऐसी वर्तमान अभाव की स्थिति में व्यक्ति का सारा ध्यान शक्ति संचय करने में और समग्र रोटी चिन्ता में नष्ट हो जाता है। जब तक उस समाज की स्थापना नहीं हो पाती जहाँ सभी की स्वाभाविक आवश्यकताओं की सहज पूर्ति हो जाती है तब तक व्यक्ति अपने समय का सदुपयोग नहीं कर सकता। बुद्धि और चेतना के श्रेष्ठ विषयों के प्रति उसकी आसक्ति नगण्य-सी रहेगी। उसे इनकी प्राप्ति के लिए चिन्तन और प्रकाश करने का अवकाश नहीं मिलता। आज आवश्यकता है जीवन में आन्तरिक और बाह्य एवं सम्पूर्ण परिवर्तन लाने की। जीवन प्रणाली में मूलगत परिवर्तन के साथ ही जीवन कला एक नवीन प्रेरणा पाएगी और मानवता अपने ध्येय की प्राप्ति कर लेगी। इस आमूल परिवर्तन के लिए सामाजिक जीवन तथा सामाजिक संस्थाओं में मात्र बाह्य रूपान्तर करना पर्याप्त नहीं है। उनका आन्तरिक रूपान्तर व्यक्तियों का आध्यात्मीकरण तथा इच्छाओं और वासनाओं का दिव्यी करण अभिप्राय है। वास्तव में बाह्य स्थिति के पतन का आदि कारण आंतरिक ही स्थिति है। ईश्वर के निराकरण से आत्मा रुग्ण हो गई है। आत्मिक सत्य एवं विश्वास के प्रति विमुखता निम्नलीन और अमानवीय

है। नैतिकता को भुलाकर जीवन की कुव्यवस्था के प्रवाह में चुपचाप बहना अशोभनीय है। जीवन्तसत्य का ग्राहक उन सभी को असह्य मानता है तथा उन सब का विद्रोही है जो चैतन्य के विमुख है। कुव्यवस्था अनौ-चित्य एवं चेतना के विरोधी जीवन को बिना किसी प्रतिक्रिया विप्लव और विक्षेप के सहने वाला व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता—उसकी भौतिक निष्क्रियता में छिपा अन्तर अशान्त रहता है।

मनुष्य शारीरिक और जैवी शक्तियों के हाथ का कठपुतला मात्र नहीं है। उसने वास्तव में आध्यात्मिकता को पाया है। मात्र शारीरिक तृप्ति उसे आत्मिक तृप्ति नहीं दे सकती। उसके लिए वही दैहिक तृप्ति उचित है जो आत्मिक सुख के लिए साधन हो। आत्मिक से विच्छिन्न शारीरिक संतोष को खोजना उसी डाल को काटना है जिसमें हम स्वयं बैठे हैं। मात्र शारीरिक सुख उस कटुता चंचलता अतिशय अहम्मन्यता क्रोध तथा तृष्णा को जन्म देता है जिसकी तृप्ति तीव्र अतृप्ति को जन्म देती है जिसका असंतोष मानवता के लिए विनाशकर है। भौतिक संतुष्टि एवं शारीरिक सुख अपने आप में बुरे नहीं हैं पर जब उन्हीं को सर्वस्व मानने लगते हैं यही जीवन की उपलब्धि बन जाते हैं एवं उन्हें ही मात्र सत्य समझ लेते हैं तब वे हृदय में भयंकर अशान्ति तथा जीवन में विनाशकारी विप्लव उत्पन्न कर देते हैं। देश-काल की धमनी में जब तक उसका अनुभव नहीं होता जो कालातीत और देशातीत है एवं जड़ में जब तक उस चेतना का अनुभव नहीं होता जो मन से अतीत है तब तक क्षुद्र आकांक्षा तथा स्वार्थी इच्छाओं का मोहजाल मनुष्य को समस्त द्वेष कटुता तथा ममता के दावानल में झुलसाता रहता है।

मनुष्य में एक अव्यक्त चाह अतृप्ति और अतिक्रमण करने की भावना है। वह अपने आप से सन्तुष्ट न होने के कारण अपने से ऊपर उठना चाहता है। वह अपनी दैहिक आत्मा के स्वामीत्व का आकांक्षी है। वह अपने आपको एकाकी अनुभव करता है—नितान्त एकाकी जो किसी भी परिस्थिति में सुखी नहीं है। वह उस सुख की खोज करता है जो स्थायी

है क्षणिक और सामयिक नहीं है उस शान्ति के लिए भटकता है जो स्थूल पदार्थों तथा मनात्मा की प्राप्ति में नहीं है। उसे एक दृढ़ आलम्ब की आवश्यकता है—बिना आलम्ब के वह अपने ही अन्दर टूट जायेगा। असहाय होकर वह एक ओर रूढ़िवादी विश्वास-आस्था तथा परम्परा से चिपकता है और दूसरी ओर उसका बर्बर उद्धत अविश्वास उसे झकझोरता है। यही नई-पुरानी मान्यताओं का संघर्ष तथा परम्परा और समयानुकूल बुद्धि का संघर्ष है। दोनों ही अंधकार में होने के कारण पथ-प्रदर्शन में असमर्थ हैं। दोनों ही आंतरिक रिक्तता को भरने तथा संबल पा सकने में अक्षम हैं। दोनों ही मूलगत सत्य एवं चैतन्य प्रकाश शून्य हैं। अतः वर्तमान और प्राचीन के बीच असत्य अंधकार और अज्ञान जन्य विरोध की खाई दिनोदिन बढ़ती जा रही है। एक ओर वर्तमान का वेगपूर्ण अंध प्रवाह है दूसरी ओर प्राचीन मान्यताओं की परम्परावादी जड़ता है। सन्देह और तर्क के बवन्डर ने धूंध उठाकर ज्ञानवस्तुओं की ज्योति को ढँक दिया है। आवश्यकता है चेतना के सत्य की पुनर्स्थापना द्वारा उस धूल को शान्त कर देने की। चेतना का सत्य अमर है उसे कोई मिटा नहीं सकता भले ही अपनी समझ और बुद्धि पर पट्टी बाँध लेने के कारण हम उसे देख न सकें। सत्य के प्रति अपने इस अज्ञान के कारण ही भगवान् की इस सृष्टि को हमने 'रहने योग्य' नहीं रहने दिया है। जगत् में अशान्ति अव्यवस्था का जो व्यापक राज्य दीखता है वह चेतना के अस्तित्व की अमिट निशानी है। चेतना मानो चीत्कार कर रही है कि मुझे पहचानो अन्यथा मिट जाओगे।

जब मनुष्य चेतना को जीवन्त लेगा और और उसका प्रकाश उसके जीवन के बाह्य स्वरूप को भीतर से परिवर्तित कर उसे तेजयुक्त कर देगा तब मनुष्य बरा जीवन के रूप का नवीनीकरण कर सकेगा। उसकी बाह्य अनुन्दरता को आंतरिक चेतना की सुन्दरता से भूषित कर देगा तथा अशोभन को शोभन बना देगा। भूमि को चेतना के धर्म की आवश्यकता है। यही जीवन को सार्थकता प्रदानकर उसे सोद्देश्य बना देगा। यह धर्म

सभी प्रकार के भेदभाव प्रवंचना कटुता असत्यता और संदेह से जीवन को मुक्त कर देना। यह आत्मिक एकता एवं आत्मानत्व का मर्म है। यह जीवन के काम्य और पथ आदर्श और यथार्थ को समन्वित कर देना—हमारे स्वभाव के बहुत स्तरों से साक्षात्कार कराकर हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को संतुष्ट कर देना। हमारी आलोचनात्मक मेधा और प्रबल इच्छाओं ने हठी निराकरण का जो स्वभाव ग्रहण कर लिया है वह अनुचित है। हठी मानस बुद्धि या स्वभाव मानव जीवन और कर्म का उचित मार्गदर्शन नहीं कर सकता। सत्य को समझने के लिए हमें उन्मुक्त दृष्टि को अपनाना होगा। चेतना ही उस व्यापक और उन्मुक्त दृष्टि को प्रदान कर सकेगी जो जीवन का समुचित मूल्यांकन कर सकती है। जीवन अत्यधिक जटिल और सदव्याप्त है। वह अनेक जाने-अनजाने चीन्हे-अनचीन्हे अनुसंधानित-अनुसंधानित तंतुओं का जाल है। उसकी दो और दो के जोड़ चार की भाँति मूर्त एवं स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। वह रहस्यमय तथ्यों से गुँथी पहेली है। जितना ही उसे जानो वह उतना ही अधिक रहस्यपूर्ण और अथाह प्रतीत होता है।

जीवन को समझने के लिए चेतना का ज्ञान आवश्यक है। बिना चेतना के ज्ञान के व्यक्ति न तो अपने जीवन को पूर्णतः संयोजित कर सकता है और न विश्व के जीवन को। चेतना एवं सत्य का पूर्ण साक्षात्कार 'जीवन को अधिक भरापूरा बनाएगा। यह भरापूरा जीवन जगत् की पूर्णता तथा जगत् के उच्चस्तर पर विकास के द्वारा ही सम्भव है। जगत् का विकास समस्त मानवात्माओं का विकास है। कोई भी जन-साधारण के जीवन की उपेक्षाकर असम्बद्ध जीवन के एकाकी धर्म में नहीं जी सकता। यह सत्य है कि व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण जीवन का स्वयं निर्माणकर अपनी आत्मा को संयोजित करना होगा है। किन्तु यह आत्मा शेष विश्व से एकदम अलग नहीं है। विश्व हमारा विराट् प्रांगण है और हम तब तक आत्म-पर्याप्त नहीं हो सकते जब तक कि विश्व न हो जाए। चेतना का धर्म वैयक्तिक और सामाजिक जाग्रति का धर्म है।

धर्म व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होकर समस्त मानवता से सबंधित हो जाता है। चेतना का धर्म जाग्रत् मनुष्यत्व—सह-अस्तित्व सह-संपृत्त सह-जीवन का प्रतीक है। वह पूर्णता का जीवन है रिक्त जीवन नहीं। लोकसेवा एवं मानवसेवा से विरहित कोरी आध्यात्मिकता निरर्थक है। मानवता की सेवा से भिन्न आत्म-पूर्णता खोजना बालू से तेल निकालना है अथवा उस एकांगी सत्य को पकड़ना है जो निष्क्रिय और पतनोन्मुखी है।

अध्याय ७

शंकरमत का विज्ञानीकरण

परम और ईश्वर :

अन्य सभी आदर्शवादी समसामयिक भारतीय दार्शनिकों की भाँति राधाकृष्णन अद्वैतवादी हैं। किन्तु एकवाद बिना मूर्त अनेकता के व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ है। यदि एकवाद अनेकता एवं बहुता के प्रश्न को सुलझाने में असमर्थ है तो वह टिक नहीं सकता। उसके पैर वास्तविकता से उखड़ जाएँगे और यदि दर्शन वास्तविकता से विच्छिन्न है तो वह मानसिक प्रलाप मात्र है। राधाकृष्णन के सम्मुख एक और अनेक की समस्या अपने व्यापक और ज्वलंत रूप में उठती है। क्या कोई ऐसा समाधान सम्भव है जो चिन्तन और अनुभव दोनों को संतुष्ट कर सके। यदि एक सत्य है तो क्या वह नानात्व मिथ्या है जिसमें हम हैं? यदि ब्रह्म स्वतःनिष्ठ है तो सृष्टि का क्या अर्थ है? अधिकांश पाश्चात्य आलोचक हिन्दू धर्म एवं दर्शन को उसके एकता के अमूर्त सिद्धान्त के कारण लांछित करते हैं। निःसन्देह हिन्दू विचारकों के लिए यह एक जटिल समस्या है; विशेषकर उन दार्शनिकों के लिए जो शंकर के ब्रह्मवाद के उपासक हैं। ब्रह्मवाद के प्रसारण के लिए यह अनिवार्य है कि उसके मायावाद का उचित विश्लेषण किया जाए। जिस जगत् मे हमारा अस्तित्व है उसे स्वप्नवत् कहना विरोधाभास है। राधाकृष्णन शंकर अद्वैत को मूलतः अपनाते हुए परम और ईश्वर के सम्बन्ध को इस भाँति समझाते हैं कि न तो एकता खण्डित होती है और न अनेकता। एकता न तो अनेकता के सत्व को कुण्ठाती

है और न अपनी सम्मति से ही निष्पादित होती है।

मनुष्य के मानस में चिन्तन एवं बौद्धिक जिज्ञासा की उपज के साथ ही एक और अनेक ब्रह्म और ईश्वर के विरोध ने जन्म ले लिया। मानव स्वभाव की मस्तिष्क और हृदय सम्बन्धी ये दो विरोधी मांगें अपना समाधान चाहती हैं। चिन्तन और भावना की ये मांगें सहजन्मा और सहगामी हैं। एक बुद्धि का समाधान चाहती है दूसरा अनुभव का। 'विश्व की अनकता के मूल में एकता अवश्य होगी।—यह एक व्यापक सत्य है जिसे आदि दार्शनिक के मानस ने जन्म दिया था। यह वह सत्य है जिसे सुलझाए बिना कोई भी दर्शन मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता। वह एकता जो अनेकता का आधार नहीं बन सकती अपने ही एकान्तवास म मिट जावेगी। वास्तविकता को न तो असम्बद्ध इकाइयाँ मान सकते हैं और न अमूर्त एकता। यदि बिना अनेकता के एकता शून्यवत् है तो बिना एकता के अनेकता मान मे लड़ते हुए रवानों की तरह है। औपनिषदिक विचा रकों ने एकता और अनेकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा है। बादरायण ने उपनिषदों के गहन और समस्त सूत्रों के सार को ही अपने शारीरिक भाष्य में ब्रह्मवाद कहा है। शंकर अद्वैतवाद जिसमें भारतीय चिन्तन की परम पराकाष्ठा मिलती है इसी ब्रह्मवाद को व्यापक अभिव्यक्ति देता है।

शकर के तात्कालिक भाष्यकारों के सिद्धान्त विशेषकर विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत परम अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित हुए। इन सिद्धान्तों ने शंकर मत को विशुद्ध एकता के दृष्टिकोण से आक्रान्त पाया। जीव जगत् और ईश्वर को असत्य नहीं कहा जा सकता वे मायाजन्य नहीं हैं। अनेकता का निराकरण करना एवं जगत् को मिथ्या कहना वास्तविकता में भ्रान्ति पर देना है। शकर के इन विरोधियों ने स्वीकार किया कि मूलतः एकता ही सत्य है। किन्तु यह एकता कोरी रिक्त या अमूर्त नहीं है यह अनेकता युक्त है। अनेकता का निराकरण असम्भव है यद्यपि उसकी एकता के सम्बन्ध में ही समझा जा सकता है। ब्रह्म सभी में व्याप्त है। वह सर्वभूतान्तरात्मा है।

राधाकृष्णन नव्य-वेदान्ती हैं। वह शंकर मत के पोषक और व्याख्याकार हैं किन्तु उनके अंध उपासक या कट्टरपन्थी पुजारी नहीं हैं। वे शंकर अद्वैतवाद के केन्द्रीय सत्य को सर्वोच्च और स्वयंसिद्ध मानते हुए उसकी व्याख्या इस भाँति करते हैं कि वह वैज्ञानिक मानस के लिए सुग्राह्य हो जाती है। इसीलिए वह अपने को शंकर का अनुयायी नहीं मानते हैं। शंकर मत से समानता होते हुए भी उनके दर्शन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है और वह है वर्तमान आवश्यकतानुसार दर्शन को संवारना। शंकर वेदान्त का स्वरूप स्पष्टीकरण करने एवं उसे वैज्ञानिक चेतना से युक्त करने का राधाकृष्णन् ने प्रशंसनीय प्रयास किया है। एकवाद उनका वातावरण है और वैज्ञानिक परिवेश में वे पले हैं। व्यापक अध्ययन गहन चिन्तन मनन और अन्तर्दृष्टि ने उनकी समन्वयात्मक प्रबुद्ध दार्शनिक चेतना को परिपक्व बना दिया है। उन्होंने परमवाद का सफल और अभिनव अनुसंधान किया है। परम और ईश्वर के बीच जो पारदर्शिता उन्होंने देखी है वह उनकी अपनी देन है। परम और ईश्वर मूलतः भिन्न नहीं हैं। अनकी भिन्नता वास्तविक नहीं औपाधिक है। दोनों में विरोध देखना एक को सत्य दूसरे को मिथ्या कहना असंगत है। वास्तव में राधाकृष्णन के दर्शन में परम और ईश्वर का स्वरूप वह सारतत्त्व है जिसमें तात्त्विक सत्य से लेकर व्यावहारिक सत्य तक का समावेश हो जाता है।

आज की वैज्ञानिक चेतना उस सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ है जो विशुद्ध तात्त्विक है अथवा जो जीवन की विविधांगी व्याख्या एवं जगत की सत्यात्मकता पर प्रकाश नहीं डालती है। वैज्ञानिकों विशेषकर जीव शास्त्रियों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने विश्व परिवर्तन और विकास को सिद्धकर विकासवाद की प्रामाणिकता स्थापित की। तब से जीवन से सम्बन्धित कोई भी सिद्धान्त जीवन के विकासात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं कर पाता है। दर्शन के उपासक एवं तत्त्वप्रेमी भी इससे विमुख नहीं हो सकते हैं। राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि जीवन विकास क्रम है। प्रारम्भ और आदि अज्ञात हैं हम केवल मध्य जानते हैं जो अनवरत

परिवर्तन की स्थिति में हैं। राधाकृष्णन का कहना है जगत का परिवर्तनशील स्वरूप स्वतः स्पष्ट है। किन्तु क्या विज्ञान उसके आन्तरिक प्रयोजन पर प्रकाश डाल सकता है ? उनका कहना है जगत् के अन्तर्निहित हेतु और धार्मिक चेतना की उत्कट माँग को वैज्ञानिक नहीं समझ सकता है। विश्व को उसी के आधार पर नहीं समझ सकते हैं। विश्व स्वतः स्पष्ट नहीं है। विश्व क्या है ? इसका भौतिक विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाला यह नहीं बता सकते कि यह क्यों है अथवा कैसे है ? विज्ञान ने जगत् के आदि और अन्त को जानने का निरर्थक प्रयास किया है क्योंकि जगत् अपना स्पष्टीकरण करने की क्षमता नहीं रखता है। विज्ञान मात्र घटनाओं के प्रारम्भ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाल सकता है। जगत् के स्रोत और अवसान को जानने की उसकी अदम्य लालसा अनवरत प्रयत्नशील है किन्तु वह सर्वदा ही स्वाभावस्य रहेगी।

विकास के सिद्धान्त ने सभी को समान भाव से आकर्षित किया है। दर्शन के लिए भी यह एक महत्त्वपूर्ण आकर्षण है। जगत् के आदि एवं उद्गम पर सभी दार्शनिकों ने मनन किया है और सभी ने प्रश्न किया है कि जगत की उत्पत्ति का क्या कारण है ? यदि जगत् का कारण अपरिवर्तनशील परम है तो जगत में परिवर्तन कैसे सम्भव है ? कार्य और कारण भिन्न धर्मी कैसे हो सकते हैं ? यदि परम स्वैतिक है तो जगत् को भी स्वैतिक होना चाहिए। जगती के विकास क्रम को तभी समझ सकते हैं जब कि उसका आधार सत्य परमात्मक हो। राधाकृष्णन के अनुसार गतिहीन और गति का भेद कालातीत और काल का भेद है। यदि कालातीत सत्य है तो काल असत्य है और यदि काल सत्य है तो कालातीत असत्य है। कालातीत और काल का भेद मनुष्य स्वभाव के प्रमिक किन्तु वाह्यतः विरोधी तत्वों की उपज है। बुद्धि और हृदय एवं चिन्तन और भावना ने ही कालातीत और काल की धारणा को अपनाया है। इन विरोधी धारणाओं एवं मानव स्वभावजन्य अधिकारों की पूर्ति के लिए ही शंकर और राधाकृष्णन ने परम तथा ईश्वर दोनों को ही

मानव जीवन में प्रतिष्ठित किया है। किन्तु शंकर जब ईश्वर और उसकी सृष्टि परिवर्तनशील प्रगभवात्मक जगत् को अपने निर्मम तर्कजाल में कसते हैं तो उन्हें मिथ्या और असत्य कह देते हैं। राधाकृष्णन का दर्शन ईश्वर को प्रतिष्ठित करने पर उसे सर्वत्र प्रमाणस्पद का स्थान देता है। असीम ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क की जो अंतर्जात भावना धर्म में होती है उसे राधाकृष्णन अविद्याजन्य नहीं मानते हैं वरन् यह भावना उसकी सत्यता स्थापित करती है जो धर्म के जीवन की परिपूर्णता का सूचक है। विकास और परिवर्तन प्रतिभास मात्र नहीं हैं वे सत्य है। समस्त विश्व विकास परम चेतना की अनन्त सम्भावनाओं की क्रमिक अभिव्यक्ति है किन्तु शंकर ने तार्किक संगति की अदम्य लालसा के कारण अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा जगत् को भ्रान्तिपूर्ण कह दिया। प्रतिभासित सत्ता अथवा जगत की असत्यता और भ्रान्ति से वास्तव में शंकर का क्या अभिप्राय था अथवा क्या शंकर मत को पाश्चात्य वैज्ञानिक शब्दावली में बाँधा जा सकता है विद्वानों का इसमें मतभेद है। शंकर के कट्टरवादी व्याख्याकार शांकरमत का किसी प्रकार का भी आधुनीकरण स्वीकार करने में क्षुब्ध हो उठते हैं। उनके अनुसार दार्शनिक तत्त्व की देशकाल और वातावरणानुकूल व्याख्या करना छिछलापन है। किन्तु राधाकृष्णन का व्यापक गहन और व्यावहारिक दृष्टिकोण ऐसी व्याख्या अनिवार्य मानता है। दार्शनिक मत को इजिप्शियन ममी के निर्जीव सौन्दर्य से विभूषित करना दर्शन का पतन है। दर्शन को जीवन का अनुगामी बनाना है, उस क्षमता से युक्त करना है जो मानव जीवन में मंगलपीयूष की वर्षा कर सके। स्पष्ट ही राधाकृष्णन हठधर्मिता और कट्टरवादिता का समयोचित विद्वत्तापूर्ण उत्तर देते हैं। शंकर के अद्वैतवादी भक्तों का प्रथम धर्म है कि वे उनके दर्शन को जीवंत धमनियों से युक्तकर उसे अमर बनाएँ। राधाकृष्णन अद्वैतवाद एवं एकवाद को वैज्ञानिक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से उचित सिद्ध करते हैं। शंकर का निर्मम तर्क परिवर्तनशील अनुभवात्मक जगत नैतिक संघर्ष तथा सांत और अनन्त के मध्य जो

वैयक्तिक संसर्ग की भावना है उस पर उद्धत भाव से प्रारम्भ हुआ है।

राधाकृष्णन शांकरमत के मूलाधार-एकता-के सर्वोच्च विचार को सुरक्षित रखते हुए वेदान्त की अभिनव व्याख्या द्वारा परम और ईश्वर के सम्बन्ध को इस सहजता से समझा देते हैं कि न तो तर्क की संगति-विषयक माँग आहृत होती है न आध्यात्मिक अनुभव और न अनुभवात्मक जगत् की वास्तविकता। वे सोदाहरण प्रमाणित कर देते हैं कि उपनिषद् और शंकर का असीम ससीम का निराकरण नहीं करता है। ब्रह्म को परम सत्य कहने के साथ वे यह कहते हैं कि विश्व ब्रह्म में आवृत है अथवा ससीम असीम में है इसलिए वह सत्यांश से युक्त है। यह आत्मा ही समस्त विश्व है, वही प्राण वाक्, मन तथा वही विश्व का सर्वस्व है। सत्य की स्वीकृति उन सभी की स्वीकृति है जो कि उस पर आधारित है। अतः ब्रह्म को परम सत्य माननेवाले सिद्धान्त से ही यह नियमन होता है कि उस सब की भी सत्यता है जो उस पर आधारित है। आत्मा के ज्ञान से ही अन्य सब ज्ञान प्राप्त होता है ऐसा औपनिषदिक कथन विश्व की विविधता का निराकरण नहीं करता। आत्मा वह विश्वात्मा है जो अपने भीतर सभी चेतन वस्तुओं और विचार के विषयों का समावेश करता है। कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो कहते हैं कि ब्रह्म में नानात्व नहीं देखना चाहिए—नेह नानास्ति किंचन। ऐसे कथन विश्व की एकता की ओर इंगित करते हैं उसे नानात्वशून्य अथवा असत्य नहीं कहते हैं। बिना नानात्व के परम सत्य अगम्य है। सृष्ट जगत् आत्मा से अभिन्न है वह असत्य नहीं है। अमूर्त प्रत्ययवाद अथवा आत्मगत विज्ञानवाद के विरुद्ध उपनिषद् और शंकर का मत जगत् की सत्यता को दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठापित करता है। ईश्वर वह शाश्वत चेतना है जो वस्तुगत जगत् का समावेश और अतिक्रमण करती है। आत्मबुद्धि के प्रकाश में विषय और विषयी के एकत्व का अनुभव होता है। ब्रह्म से पृथक किसी का अस्तित्व नहीं है वह भूमा तथा सबका अधिष्ठान है। उपनिषद् ने मायावाद का इसी अर्थ में अनुमोदन किया है कि सत्तानिष्ठ

सत्य सगुण ईश्वर से लेकर तार के नीचे तक विभिन्न तत्वों में व्याप्त है। शंकर के अनुसार भी आत्मा सभी प्राणियों के हृदय में है। ब्रह्मा से लेकर सरकन्डे तक अथवा उच्च से लेकर निम्न तक सभी का अस्तित्व आत्मा के कारण है। माया वैचारिक स्तर पर आत्म-पार्थक्य का प्रति निर्वचन करती है जो कि वास्तविकता के हृदय में निवास करता है और उसे अपने को विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। अतः उपनिषद् का दर्शन जगत् के मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं करता है। वह देश-काल और कारणत्व से युक्त विश्व के अस्तित्व को ब्रह्म में ही देखता है। उससे भिन्न जगत् मिथ्या है। जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जगत्का निराकरण नहीं करता उसे एक उच्च अर्थ देकर उसके स्वरूप की पुनर्व्याख्या कर देता है। सत्ता सभी में अनुस्यूत है यह प्रतिभासित जगत् में भी है। ब्रह्म विश्व में है यद्यपि विश्व की भाँति देश काल कारणयुक्त नहीं है। सत्य का ज्ञान विभिन्नता का निराकरण न कर उसके बोध का निराकरण करता है। जिस भाँति रज्जु-सर्प भ्रम की स्थिति में रस्सी साँप प्रतीत होती है किन्तु भ्रम का निवारण हो जाने पर, पूर्ववत् दीखने लगती है उसी भाँति ब्रह्म साक्षा त्कार से जगत् का रूपान्तर हो जाता है। शंकर मायावाद का रूढ़िवादी अर्थ करनेवाले शंकर मतानुसार जगत को भ्रान्तिपूर्ण एवं असत्य कहते हैं। क्योंकि परम सत्य अपरिवर्तनशील है और जगत् परिवर्तनशील इनमें कारणत्व का सम्बन्ध असम्भव है। उनके अनुसार, वास्तव में जगत् है ही नहीं। राधाकृष्णन् शंकरमत को समझाते हुए कहते हैं कि वह जो असत्य है अभिव्यक्त नहीं हो सकता है। बंध्या स्त्री के पुत्र अथवा आकाश पुष्प के स्तर पर जगत् को समझना भूलता है क्योंकि असत् अथवा नास्ति की प्रतीति नहीं हो सकती। जागतिक परिवर्तनों की भी वे वौद्धिकता पूर्वक सिद्ध करते हैं। जगत् को भ्रमवत् समझनेवालों का कहना है कि ब्रह्म निष्पन्न है। ब्रह्मवाद विकास को स्वीकार नहीं कर सकता। विकास असत्य है क्योंकि विकास परिवर्तन है और परिवर्तन असत्य है क्योंकि

काल जिसमें हम हैं वह असत्य है। काल और कालातीत के अस्वाभाविक विरोध को राधाकृष्णन सरासर झूठ मानते हैं। यह मिथ्या विभाजन है। परम सत्य कालातीत अवश्य है किन्तु काल भी मिथ्या नहीं है वह सत्य की अभिव्यक्ति है। कालक्रम वास्तविक क्रम है क्योंकि सत्य कालिक में और उसके द्वारा अपने को व्यक्त करता है। उपनिषदों म इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि कालक्रम अपना आधार और अर्थ उस परम मे पाता है जो मूलतः कालातीत है। राधाकृष्णन के अनुसार वास्तविक उन्नति और विकास के लिए परम की ऐसी धारणा आवश्यक है। यह व्यावहारिक जीवन का मूल मान्यता है। ईश्वर को विश्व का मूल मानना हमारी चेतना की आवश्यकता है अन्यथा विश्व निरर्थक प्रतीत होगा। बिना इस प्रकार के सर्व समाविष्ट परम को स्वीकृत किए यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि विश्व का प्रवाह एक विकास क्रम है परिवर्तन उन्नति है और विश्व विकास की अन्तिम परिणति शुभत्व के विजय की स्थिति होगी। परम की धारणा यह प्रमाणित करती है कि विश्व का क्रम अव्यवस्थित नहीं सुव्यवस्थित है। हमारा विश्व घटनाओं का अर्थहीन कोलाहल नहीं है उसमें संगति तथा दिव्य प्रयोजन है। इतिहास की प्रत्येक घटना और प्रत्येक क्षण द्वारा दिव्यता अभिव्यक्त होती है। इस अर्थ में विकास और इतिहास सत्य हैं क्योंकि उनकी सत्यता परम की पूर्णता को स्खलित नहीं करती है। परम में अनन्त सम्भावनाएँ हैं और उनमें से कुछ को विश्वक्रम प्राप्त कर लेता है। सत्ता और घटित होती हुई स्थितियाँ एवं घटनाक्रम अथवा यह जो है, जो हो रहा है और जो होने वाला है ये सब एक ही है। ऐसा कथन विश्व को भ्रांतिपूर्ण सिद्ध नहीं करता है। उपनिषदों और शंकर दर्शन में ऐसा कुछ भी नहीं है जो परम रूप से यह प्रमाणित कर सके कि वस्तुगत जगत् मिथ्या है। शंकर ने विज्ञानवादियों की जिस प्रकार आलोचना की है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वे जगत् को शून्यवत् नहीं मानते थे। दर्शन अनुभव का निराकरण नहीं कर सकता। उन वस्तुओं

का अस्तित्व है जिन्हें हम देखते तथा अनुभव करते हैं। वस्तुतः जगत् की तुलना स्वप्नावस्था से करना तात्कालिक बोध और अनुभव को झुठलाना है। प्रतिभासित और व्यावहारिक सत्ता में गुणात्मक अन्तर है। अनुभवात्मक जगत् स्वप्नों और कल्पनाओं के धरातल का नहीं है। उसमें अधिक सत्यता और वास्तविकता है। ब्रह्मानुभव में उसकी सत्ता रहती है यद्यपि उसके स्वरूप का पूर्ण रूपांतर हो जाता है। शून्यवाद को तो शंकराचार्य इतना मूर्खतापूर्ण सिद्धांत मानते हैं कि उसका खंडन करने की आवश्यकता तक उन्हें प्रतीत नहीं होती है क्योंकि यह उचित ज्ञान के विरुद्ध है। बौद्ध-दर्शन के जगत की अवास्तविकता का शंकराचार्य ने सामान्यबोध अनुभव और उचित ज्ञान के आधार पर जो खंडन किया है वह शंकराचार्य के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रतिफलित करता है। इसीलिए उन्होंने बार-बार दुहराया है कि सत्य ज्ञान अनेकता का विनाश नहीं करता किन्तु अनेकता के बोध को मिटा देता है। सत्ता वह अव्यभिचारी वस्तु है जो सभी का अन्तर्निष्ठ सत्य है और जिसके कारण जगत सत्य है। इस लक्ष्य को सम्मुख रखते हुए शंकर परा और अपरा विद्या का भेद समझाते हैं। परा विद्या परम सत्य है। किन्तु अनुभवात्मक सत्य अथवा अपरा विद्या परम रूप से असत्य नहीं है। यह अनुभवात्मक चेतना द्वारा दृष्टिगत सत्य है। यह जगत् को देश-काल-कारण में देखना है न कि उसकी परम सत्यता में। अपरा और परा विद्या से कोई अन्तर्जात विरोध नहीं है। अपरा विद्या की अन्तिम परिणति परा विद्या ही है। अपरा विद्या सृष्टि को सत्य मानती है किन्तु सृष्टि का स्वरूप बतलाता है कि ब्रह्म् ही सत्यात्मा है। अतः मोक्ष में भी जगत का विसर्जन न होकर उसके प्रति मिथ्या दृष्टिकोण का विसर्जन होता है। यदि मोक्ष का महत्व जगत् की अनेकता के ध्वंस पर निर्भर है तो जिस व्यक्ति ने सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त किया था उसके मोक्ष प्राप्ति के साथ ही जगत् का नाश हो गया होता। सत्य साक्षात्कार अनेकता का विनाश नहीं करता है केवल अनेकता के बोध एवं भेदबुद्धि को दूर करता है।

प्राणिक मानवीय आदि आध्यात्मिक श्रेणियों का अस्तित्व है। राधाकृष्णन् उपनिषद् के इस सिद्धान्त को आधुनिक विकास के अर्वाचीन सिद्धान्त के संदर्भ में समझाते हैं। वह अध्यात्मवादी हैं, किन्तु उनका *अध्यात्म आत्मगत अमूर्त या गतिहीन नहीं है। उनका परम मूर्त गतिशील* एकता है। विभिन्न उद्भूत तत्वों का अध्ययन बतलाता है एक सामान्य एकता या अविच्छिन्नता विकास के विभिन्न स्तरों में प्रवहमान है। प्रत्येक स्तर में क्रिया धार्मिक अंतर-संबंध तथा विकास मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक का अंत: सत्व एक ही है। परम की ऐसी धारणा व्यावहारिक जीवन की सत्ता का निराकरण नहीं करती है। अनेकता सत्य है यद्यपि वह अपनी सत्यता अपने भीतर अंतर्हित एकता द्वारा प्राप्त करती है। वह आंतरिक एकता की ही अभिव्यक्ति है। मनुष्य पशु, पक्षी वनस्पति जगत् सभी चेतना की अभिव्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

चेतना की इन विभिन्न अभिव्यक्तियों को विज्ञान ने समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या का परीक्षण बतलाता है कि वह बाहरी छिलके को ही पकड़ पाया है। विश्व अस्तित्व का प्रथम अभिव्यक्त रूप भौतिक है। अव्यक्त से पहिले हमें भौतिक अभिव्यक्ति मिलती है। जड़तत्व का विकास ही जीवन है। जड़तत्व का अस्तित्व क्यों है। वह विकासशील क्यों है ? उसके सृजन उन्मेष का क्या कारण है ? विज्ञान अपनी खोज के परिणामस्वरूप भूततत्व को इलेक्ट्रांस और प्रोटांस में विभाजित कर देता है। वह यह भी नहीं बतला पाता कि भूततत्व में ये दो प्रकार क्यों हैं ? जीवन (प्राण) के प्रस्फुटन के मूल में वे उसी की शक्तिसंपन्नता को देखते हैं जो जड़तत्व पर अपने नियम आरोपित करती है। *चेतन जीवरचनाओं के कर्म विवेक से संचालित नहीं होते हैं* किन्तु वे परिस्थिति के प्रति इस भाँति प्रतिक्रिया करती हैं कि वे अपनी रक्षा और वृद्धि कर लेती हैं। उनके कर्म उस परिणाम को जन्म देते हैं जो व्यक्ति और जीवयोनि के लिए लाभप्रद है। मनुष्य ऐसे कर्म दूरदर्शिता और समझ से करता है। जीवनक्रम और प्राणिक क्रियाओं की व्याख्या

जीवविज्ञान का क्षेत्र है। जो अनेक प्रकार की जीवयोनियाँ मिलती हैं उसका क्या कारण है? जीवयोनियों में परिवर्तन कैसे होता है? उच्च और निम्न प्रकार के जीवन का क्या कारण है? डार्विन का सिद्धान्त इन कारणों की खोज अवश्य प्रारम्भ करता है किन्तु वह जीवन के जैव पक्ष में ही भटक जाता है और परिणामस्वरूप मूल कारण को समझने में असमर्थ रहता है। जीवन-संघर्ष का निष्ठुर नियम योग्यतम की विजय और प्राकृतिक चयन पर रुक जाता है। उसके अनुसार अंगी और वातावरण का सामञ्जस्य अथवा आन्तरिक संबंधों का बाह्य संबंधों से निरन्तर सामंजस्य ही जीवन है। राधाकृष्णन् समझाते हैं कि विकासवाद का यह स्पष्टीकरण अपने आपमें अपूर्ण है। जीवशास्त्री इन योनियों के आंतरिक परिवर्तन और अन्तर्निहित सत्य के रहस्य को नहीं समझ पाए हैं। यह परिवर्तन मात्र संघर्ष का नहीं है। यह सृजनात्मक परिवर्तन है। जड़तत्त्व और जीवन में सृजनात्मक प्रवाह क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में जीवशास्त्र और भौतिकविज्ञान दोनों ही मौन हैं। वे जीवन के उद्देश्य और हेतु के प्रति तटस्थ हैं। राधाकृष्णन को आश्चर्य है कि जब विश्व में स्पष्ट हेतु परिलक्षित होता है तो उससे कोई कैसे उदासीन रह सकता है। वस्तुओं और प्राणियों के बाह्य जीवन का विश्लेषण तथा पार्श्व-दर्शन अपर्याप्त है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंतर जीवन को भी समझना होगा। जीवन रहस्यमय प्राण-शक्ति से आगे एक महत्तर ध्येय का सूचक है। इस ध्येय को समझे बिना जीवन की स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती है। यांत्रिक और जड़तत्त्व के सूत्रों द्वारा जीवन को समझना ठीक नहीं है। मानसिक क्रियाओं को भौतिक क्रियाओं के धरातल पर नहीं समझा जा सकता है। मन इनसे भिन्न और श्रेष्ठ है। उसमें बाह्य वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया-मात्र नहीं है। मानसिक जीवन आत्म-नियन्त्रण और आत्म-संचालन की योग्यता रखता है। जीव रचना और वातावरण का जो संबंध जीवित और जैव जगत् में मिलता है वह मानसिक स्तर पर अधिक जटिल और दुरूह हो जाता है। पशु ज्ञानेन्द्रिय वैयक्तिक अपना

अनुभव द्वारा वातावरण का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वे चेतनायुक्त हैं। उनमें आत्म-संरक्षण का सहज बोध है। उनकी क्रियाओं में एकता और समीकरण है। कितनी ही अविकसित चेतना क्यों न हो उसमें समन्वय होता है। चेतन व्यवहार में जो सामंजस्य और चयन की विधि मिलती है वह भौतिक प्रतिक्रियाओं से भिन्न है वह जीवन के प्राकृतिक सामंजस्यों की भाँति नहीं है। वह अद्वितीय सृजनशील और अपनी विशिष्टता लिये हुए है। चेतन व्यवहार को आचरणवादियों की भाँति प्रक्षिप्त कर्मों या सम्बद्ध प्रत्यावर्तन द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। ऐसे कर्म विवेकपूर्ण सामंजस्य के परिणाम नहीं है किन्तु अनेक बार दुहराए जाने के परिणाम है। मानस या चेतना का आविर्भाव एक अधिक श्रेष्ठ तत्व है। उसे जड़तत्त्व या जीवन के नियमों से नहीं जाँच सकते। आत्मा मनुष्य के देह की वास्तविकता है जिस भाँति दृष्टि-शक्ति चक्षु की वास्तविकता है। यद्यपि चेतना प्राण या जीवतत्त्व से उत्पन्न या प्रस्फुटित होती है और प्राण से भिन्न वस्तुओं के साथ अन्योन्याश्रित की सूचक है, किन्तु फिर भी उसका अपना नियम है जिससे वह संचालित होती है। मानव को पूर्णत जड़ या जीवन का प्रतिबिंब मानना असत्य है। चेतना की अभिव्यक्ति की भिन्नता ही मनुष्य और पशु के अन्तर को समझाती है। पशु के कम चेतन है और मनुष्य के आत्म-चेतन या आत्म-प्रबद्ध। मनुष्य अनजाने ही आदर्श या ध्येय की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहता है। वह वातावरण और वातावरण के साथ अपने संबंध के बारे में सचेत है। वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। अपने विकास तथा उन्नति के लिए उसे सप्रयास कर्म करने होते हैं। यदि वह अपने दायित्व से विमुख हो जाता है और पशु सदृश जीवन व्यतीत करने लगता है तो कर्म का निर्मम नियम उसे प्रताड़ित करता है। मनुष्य का धर्म है कि वह अपने आत्मबोध का विकासकर उसे स्व-प्रकाशित चेतना से दीपित करे। आध्यात्मिक जीवन चेतना के जीवन से कहीं अधिक महत् है। जो भेद पशु और पशु में पशु और विवेकशील मनुष्य में है वही आध्यात्मिक प्राणी

और विवेकशील मनुष्य में है। आध्यात्मिकता से रिक्त, मात्र विवेक का जीवन जीने वाला विरोध है और संघर्ष का जीवन जीता है। आध्यात्मिकता मानव जीवन की पूर्णता है। यही विश्व-विकास का लक्ष्य है। यह आनन्द या चेतना की स्थिति है।

राधाकृष्णन का कहना है विश्व में जो अन्तर्निष्ठ प्रयोजन मिलता है उसे विज्ञान नहीं समझ पाया है। विश्व का आंतरिक ध्येय तर्क के स्तर पर उस सत्य को स्वीकार करता है जो अ-कालिक है। बिना इस शाश्वत को अपनाए देश-काल के विश्व की व्याख्या असंभव है। विश्व का आधुनिक स्पष्टीकरण अपूर्ण है। यह मात्र कुछ बाह्य नियमों तक सीमित है। इन नियमों का तार्किक परीक्षण उस आध्यात्मिक सत्य को प्रतिष्ठित करता है जो अनुभवातीत है तथा संघटित होते हुए ऐतिहासिक विश्व को नियमित करता है। इस विश्व के भीतर से इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। इसकी व्याख्या ईश्वर को माने बिना अपने आपमें समर्थ नहीं है। विश्व प्रयोजन विश्व की आध्यात्मिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है। अतीन्द्रिय सधर्म के बिना दैवकाम का स्पष्टीकरण संभव नहीं है। धार्मिक अनुभव का अनिवार्य सत्य ही ईश्वर या परम है। यह जीवन सत्य है। उस सत्य की उपेक्षा चिन्तन नहीं कर सकता। घटित होते हुए विश्व को तब तक नहीं समझ सकते जब तक ईश्वर को न समझ लें अथवा जगत् के आंतरिक प्रयोजन पर प्रकाश न डाल लें। जगत् का अंतर्हेतु जिस ईश्वर को परिलक्षित करता है उसे प्रमाणित या सिद्ध नहीं किया जा सकता। बौद्धिक तर्क व्यर्थ है क्योंकि स्वतःसिद्ध है एवं स्वप्रकाश है। उसके अस्तित्व की दुर्निवार्यता के प्रति कोई भी उदासीन नहीं रह सकता उससे अपने जीवन को असम्बद्ध नहीं रख सकता। बिना उसके जीवन खोखला तथा नैतिकता कला और तर्क-शास्त्र अर्थविहीन हो जायेंगे। विज्ञान तर्कशास्त्र कला और नैतिकता विश्व की तार्किक संगति नैतिक पूर्णता और अंतःसौन्दर्य की पूर्ण प्रामाणिकता पर अवलम्बित है। ये वे सिद्धियाँ हैं जो अलौकिक नहीं हैं पर इन्हें प्रमाणित

करना भूल-भुलय्या में पड़ना है। न तो इन्हें सिद्ध कर सकते हैं और न इन पर संदेह ही कर सकते हैं। जीवन जीवन का अर्थ और उसका प्रयोजन ईश्वर को माने बिना संभव नहीं है यद्यपि ईश्वर सभी प्रमाणों से परे है। बुद्धि द्वारा सिद्ध न होने पर भी वह जीवन का अनिवार्य आग्रह है। ईश्वर या चेतना जीवन की संपूर्णता का स्वतःसिद्ध परम सत्य है। वह धार्मिक चेतना की सर्वोच्च पूर्ण भावना है। धार्मिक चेतना मनुष्य की संयोजित समग्रता का अनुभव है। अतः उसके अनुरूप सत्यता को भी अनिवार्यतः एक संपूर्ण सत्य होना चाहिए जो मनुष्य सत्ता को उसके विभिन्न रूपों में संतुष्ट कर सके। भगवत् साक्षात्कार वह साक्षात्कार है जिसमें मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर परम प्रकाश प्रेम और जीवन प्रतीत होता है।

मान्यताओं की व्यवस्था और विकास में जड़तत्त्व से जीवन जीवन से पशु प्रकृति पशु-चातुर्य से मानव आत्म-चेतना मानव आत्म-चेतना से आध्यात्मिक विवेक में जो परिवर्तन दीखता है वह जैव-क्रम में नए विचारों और मान्यताओं के समावेश का निदर्शन है। जड़ता के जिवन में कोई घटना अकस्मात् घटित नहीं होती है। उसमें सर्वत्र विकास का एक क्रम रहता है। जितने ही ऊँचे हम उठते जाते हैं उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि परिवर्तन उस यांत्रिक अवधारणा से निर्धारित नहीं होता है जिसमें कि पूर्व परिस्थितियाँ आगामी परिणामों को वस्तु के आंतरिक स्वभाव के बिना ही निर्धारित करती हैं। आत्मप्रबुद्ध प्राणियों में ऐसी बातें घटित होती हैं जो भौतिक प्राणिक और मात्र चेतन क्रियाओं से स्पष्ट ही भिन्न हैं। इनमें चिंतन की योग्यता आविष्कार की शक्ति तथा बुद्धि है। बुद्धि को सहज प्रवृत्तियों का ही जटिल रूप नहीं कहा जा सकता वह सहज-प्रवृत्तियों से पर्याप्त भिन्न है। बुद्धि के कारण ही मनुष्य आगे-पीछे का सोच विचार कर परिस्थिति के अनुरूप कर्म कर सकता है। जड़तत्त्व से जीवन जीवन से मन मन से चेतना—इस प्रकार पशु से मनुष्य में क्रमबद्ध विकास मिलता है किन्तु दोनों में स्पष्ट अंतर

भी परिलक्षित होता है।

मनुष्य विकास की वर्तमान स्थिति का श्रेष्ठतम रूप है। उसमें अनेक अद्वितीय योग्यताएँ हैं। वह प्रकृति पर शासन कर सकता है। उसके पास विवेकजन्य वह शक्ति है जो उसे विभिन्न नई परिस्थितियों के साथ संयोजित करती है। मानव चेतना की प्रमुख विशेषता ज्ञान है। ज्ञान परम तथ्य है। उसे किसी अन्य वस्तु से उद्भूत नहीं कर सकते। हम ज्ञान के उपादानों की व्याख्या और विश्लेषण कर सकते हैं, किन्तु ज्ञान क्यों है यह नहीं समझा सकते हैं। वास्तव में आत्म-चेतन या आत्म-बोध अधिक श्रेष्ठ प्रकार की चेतना है वह एक नए स्तर का आविर्भाव है। विकास के प्रत्येक स्तर पर नया और अधिक श्रेष्ठ आविर्भाव अन्तः सत्य की सृजनशीलता को व्यक्त करता है। इस एकमेव अन्तर्निष्ठ सत्य को वास्तविक व्याप्तशील आध्यात्मिक शक्ति के रूप में ही समझाया जा सकता है जो अपने को क्रमशः पूर्ण और पूर्णतर अभिव्यक्तियों द्वारा अधिकाधिक व्यक्त कर रही है। विज्ञान इस अनुभवातीत सत्य को समझाने में असमर्थ है। निर्जीव और सजीव के बीच जो अन्तर मिलता है अथवा जीवन और मानस तथा मानस और चेतना के बीच जो अन्तर दीखता है उसे वैज्ञानिक ज्ञान नहीं समझा पाता है। वैज्ञानिक ज्ञान की उपपत्ति उसके सीमित रूप को ही प्रकट करती है। वह व्यक्त कर देती है कि कुछ ऐसी अन्तिम सीमाएँ हैं जिनका वैज्ञानिक ज्ञान अतिक्रमण नहीं कर पाता है। वैज्ञानिक अन्वेषण भी इन सीमाओं को तोड़ने में अशक्त है। यह वैज्ञानिक को उस सीमान्त पर खड़ा कर देता है जिसे वह पार नहीं कर पाता पर जो अनुभव के दूसरे स्तर पर उसे ले जाता है।

जगत् आत्मनिर्भर तथा स्वतः स्पष्ट नहीं है। उसका ज्ञान स्व-प्रकाश तत्त्व की ओर संकेत करता है। ज्ञान और अज्ञान के भेद को मिटाने के लिए विज्ञान अपूर्ण है। जगत् उस पर निर्भर है जो उससे परे है और जिसे उसकी कोटि नहीं माना जा सकता है। इस परम सत्य को मात्र प्रमाण से परिमित नहीं किया जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति बहुधा

एक सीमित नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान उसके सम्मुख पंगु है। विज्ञान के चमत्कार अद्भुत अवश्य हैं, किन्तु वे उससे अधिक आश्चर्यजनक नहीं है जो मनुष्य का मानस है और जिसने प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन किया है। विज्ञान भी अप्रत्यक्ष रूप से मानव-मानस की शक्ति पर प्रकाश डालता है जो अपने विभिन्न गुणों से प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करती है। वास्तव में चेतना और जड़ता का भेद ज्ञाता और क्षेत्र या पुरुष और प्रकृति का भेद अथवा स्वतंत्रता और अनिवार्यता का भेद है। अनिवार्यता हमें हमारे बारे में सचेत करती है। यदि अनिवार्यता के विश्व में हम आत्मा की भिन्नता को समझ लें तो हम अपनी वास्तविक स्थिति स्वतंत्र सत्ता को प्राप्त कर सकते हैं। परम एक बौद्धिक विचार-मात्र नहीं है, वह जीवंत सत्य है। हम उस परात्पर के बारे में सचेत हो जाते हैं जो विश्व से परे है। विश्व जैसा है वैसा ही क्यों है कुछ अन्य क्यों नहीं है?—ऐसी जिज्ञासा का संबंध उस सत्ता से है जो मुक्त है। प्राकृतिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन हमें उनसे परे ले जाकर उस परात्पर सत्ता की ओर आकर्षित करता है जो स्वतंत्र है। यदि हम केवल सत्ता पर ही प्रकाश डालें तो उसका अमूर्त रूप ही सम्मुख आएगा। यह वह नकारात्मक या ऋणात्मक तत्त्व है जो विश्व उसकी अनेकता और अपूर्णता का विरोध करता है। ईश्वर परम परात्पर के रूप में वह प्रत्यय है जिसमें सब-कुछ तिरोहित हो जाता है। स्वयं परात्परता नास्ति में परिणत हो जाती है। यदि वह अपने को बाहर नहीं देती है तो उसकी स्वतंत्रता खोखली है। केवल सार्वभौमिकता ही परात्पर को अर्थगर्भित करती है।

परम के ऐसे दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए राधाकृष्णन कहते हैं परम संपूर्ण आध्यात्मिक या चेतन सत्ता है। सत्ता इत्यमान सत्ता एवं व्यावहारिक जगत् सत्य है। संसार परिवर्तनशील या क्षणभंगुर अवश्य है किन्तु वह सत्य है आपचनमय है। संसार के सदर्प विरोध और असंगतियों से परे जो अपरिवर्तनशील सत्य है वह सर्वत्र है—संसार में

भी और उससे परे भी। बिना उसके न इस विश्व का अस्तित्व है और न यहाँ से परे का। ईश्वर जगत् में व्याप्त और जगत् से परे, परात्पर सत्य है। वह जगत् का अंतस्तत्व है। वह निमित्त कारण और उपादान कारण है। उसकी सत्ता को विश्व में सीमित नहीं कर सकते क्योंकि वह अनंत है। ईश्वर अपनी अनंतता में परम है। किन्तु ईश्वर के अंतःस्थित और परात्पर रूप के ऐक्य को बुद्धि नहीं समझ पाती है। यह द्वैतात्मक है। इस द्वैत का खंडन भागवत अनुभूति में होता है क्योंकि तार्किक विरोध तात्त्विक विरोध नहीं है। भागवत साक्षात्कार एवं धार्मिक अनुभूति में बौद्धिक द्वन्द्व का अतिक्रमण हो जाता है—वह सम्यक ऐक्य परम संतोष और अद्वितीय आनंद की स्थिति है। वह मानस हृदय एवं संपूर्ण आत्मा की तृप्ति की सूचक है। पर धर्म का दर्शन इस स्थिति की दुहाई देकर चिंतन में उठी समस्या का समाधान नहीं कर सकता। उसे संगति और ऐक्य को समस्यात्मक ढंग से समझकर बौद्धिक जिज्ञासा का बौद्धिक ही समाधान करना है। वास्तव में बुद्धि द्वारा लक्षित विरोधों का विवेकसम्मत समन्वय ही धर्म के दर्शन की केन्द्रीय मूल समस्या है। परम का एक रूप वह है जो शाश्वत रूप से पूर्ण है और उसका दूसरा रूप वह है जो आत्म निर्धारण द्वारा अपने को कालक्रम एवं देश-काल कारण में अभिव्यक्त करता है, जो प्रकृति और मनुष्य अथवा जीव और जड़ का समावेश करता है। राधाकृष्णन का कहना है कि हिंदुत्व इस बौद्धिक और प्रतिभासिक समस्या के प्रति पूर्ण सचेत है। वह इसे अगम्य नहीं मानता उसे मानसिक एवं मानवीय स्तर पर सुलझाना चाहता है। ईसाई, बौद्ध आदि अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म उपर्युक्त दार्शनिक समस्या के प्रति बाद सजग नहीं हुआ है। वह औपनिषदिक काल से ही सजग है। उपनिषदों में सर्वत्र ही परम की परिवर्तनरहित पूर्णता में तथा भगवान के उस स्वरूप में जो परिवर्तनशील जगत् के दायित्व को वहन करता है सामंजस्य स्थापित करने के अनेक प्रयास मिलते हैं। गीता शंकर, रामानुज और मध्व में यह प्रयास स्पष्ट है। राधाकृष्णन

इस प्रयास को आज की वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत कर शंकर की समन्वय-विधि की नव्य व्याख्या उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि परम अमूर्त एवं निराकार नहीं है। धार्मिक अनुभव बतलाता है कि परम और ईश्वर एक ही सत्य के दो रूप हैं। धार्मिक अनुभव में वे तत्त्व हैं जो परिपूर्णता और शांति शाश्वतता और सम्पूर्णता का बोध देते हैं जो सत्ता के उस स्वरूप का ज्ञान देते हैं जिसकी प्रकृति देश-काल में निक्षेप न हो गयी हो तथा जो वास्तविकता की उस सर्वपरिपूर्णता से युक्त है जिसे हमारा विश्व अस्पष्टतः प्रतिबिंबित करता है। धार्मिक अनुभव का यह पक्ष परम की उस धारणा की स्थापना करता है जो स्वयंभू, असीम स्वतंत्र परम प्रकाश परम शक्ति और परमानंद है। दूसरी ओर धार्मिक अनुभव में वे तत्त्व भी हैं जो ईश्वर को उस स्व-निर्धारित सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, जो धार्मिक विकास में अभिव्यक्त होता है। जो ज्ञान शुभत्व और प्रेम के गुणों से सम्पन्न है। इस दृष्टि से भगवान् मानवीय सत्ता सगुण और सविशेष है। उनके साथ वैयक्तिक संबंध रखा जा सकता है। यह व्यावहारिक धर्म और नैतिकता की अनिवार्य मान्यता है। धार्मिक चेतना का आधार, संपूर्ण जीवन का आश्रय है। परम परात्पर शाश्वत है ईश्वर वैसा शाश्वत है। परम समग्र सत्य है ईश्वर विश्व के छोर या पार से परम है। ईश्वर वह चैतन्य है जो जगत् का निर्माण और पालन करता है वह कालातीत चेतना है जो शाश्वत मूल्यों को काल के स्तर पर प्राप्त करने का प्रयास करती है। विश्व-विकास का आरम्भ जो इसका सत्य और स्पष्टीकरण है एक अर्थ में सत्य है। आदर्श का सत्य एक विशिष्ट प्रकार का है। यह वह सत्य नहीं है जो प्राप्त हो चुका है या प्राप्त है वरन् जिसे अभी प्राप्त करना है। आदर्श एक प्रकार से बहुत बड़ा सत्य व्यापक सत्य है और दूसरी प्रकार से एक दूर की सम्भावना मात्र है। विश्व-क्रम इस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है—यह उन अनंत संभावनाओं की प्राप्ति के लिए विकासशील है जो परम में हैं। जगत् का

मूल्य और धर्म इसमें है कि वह समय और अस्तित्व की सीमा के भीतर उसे प्राप्त कर लेता है जो काल और अस्तित्व से परे है। किन्तु जिन मूल्यों को विश्व-क्रम ने पा लिया है अथवा पाने का प्रयास कर रहा है वह परम में निहित अनंत संभावनाओं में से कुछ ही हैं। अतः विश्व के क्रम-विकास की व्याख्या परात्पर सत्य के बिना संभव नहीं है। परम सब वास्तविकता और संभावनाओं की नींव और केन्द्र है। जहाँ तक ईश्वर का प्रश्न है वह विश्व के मूल्यों के संदर्भ में परम का सीमाकरण है। परम उस विशिष्ट संभावना की दृष्टि से ईश्वर प्रतीत होता है जो वास्तविकता प्राप्त कर रही है। जीवन और जगत् का मूलाधार ईश्वर है। ईश्वर वस्तुओं पर निर्भर है तथा जगत् से धार्मिक भाव से संबंधित है किन्तु वह परम नहीं है। शुद्ध सत्ता विश्व-क्रम में निःशेष नहीं होती क्योंकि वह उन अनंत मार्गों में से एक मात्र है जिनका परम वास्तविकता अपने को व्यक्त करने के लिए अतिक्रमण करती है। वह अव्यय है। परम के प्रसंग में अतिक्रमण या अंतर्निष्ठता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता क्योंकि ये धारणाएँ एक दूसरे के अस्तित्व की अपेक्षा रखती हैं। जब विश्व परम की ही एक संभावना का मूर्तिमान रूप है और ईश्वर उसी का सीमाकरण है तो परम से भिन्न अन्य किसी भी सत्ता को कैसे माना जा सकता है। राधाकृष्णन का मत है कि यदि परम की अंतर्निष्ठता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि विश्व उसी की एक संभावना का वास्तवीकरण है और क्योंकि इस वास्तविकता के पीछे कोई अनिवार्यता नहीं है, सृष्टि को परम की स्वतंत्र लीला कहा जा सकता है। जगत् परम की वास्तविक अभिव्यक्ति है यद्यपि यह परम के लिए आवश्यक नहीं है कि वह इस भाँति अपने को अभिव्यक्त करे। सृष्टि एक स्वतंत्र कर्म है। भगवान् की स्वतंत्रता अपने को क्यों व्यक्त करती है अथवा उसको यह विशिष्ट संभावना वास्तविकता क्यों प्राप्त करती है इसका उत्तर देना कठिन है। सृष्टि क्यों है अथवा परम क्यों देश-काल में अभिव्यक्त होता है यह एक निरर्थक जिज्ञासा

तथा काल्पनिक कठिनाई है जिसका वास्तविक समाधान असंभव है। विश्व को हम परम की स्वतंत्र लीला या अभिव्यक्ति अथवा उसकी प्रभुता के प्राचुर्य का ही रूप कह सकते हैं। सृष्टि के रहस्य को माया मानना होगा। क्या मायावाद सृष्टि और सृष्टिकर्ता की सत्ता को प्रतिभासित कहता है? राधाकृष्णन माया की ऐसी व्याख्या को स्वीकार नहीं करते हैं। पहिले तो यह व्याख्या निष्क्रियता और पलायन की भावना को प्रोत्साहित करती है। दूसरे ईश्वर परम का प्रतिभास-मात्र नहीं है। परम सर्वव्यापक एवं सर्वसमावेशक ईश्वर है। तीसरा बुद्धि का द्वंद्वात्मक स्वरूप इस रहस्य का उद्घाटन करने में असमर्थ है जो उसका अतिक्रमण करता है। यह धार्मिक बोध या सहज बोध का विषय है। वास्तव में ब्रह्म और जगत् का संबंध अनन्यता का है। दोनों के संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि संबंध दो पृथक वस्तुओं का सूचक है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म में ही है। परम में अनंत सम्भावनाएँ हैं। उसकी स्वतंत्र लीला के परिणामस्वरूप उनमें से एक ने वास्तविकता प्राप्त कर ली है। भगवान् की यह लीला अपने आपमें परिपूर्ण है और निरंतर अपना ही शुभ फल है। परम मानस के पास पूर्ण आदर्श सत्ता का बोध है और वह स्वतंत्र क्रियाशील भी है। यद्यपि परम की अशेष क्रिया शीलता में विश्व की सृष्टि एक घटनामात्र है तथापि वह मानवीय दृष्टि से ईश्वर में एक गहन अभाव की पूर्ति है। जगत् ईश्वर के लिए उतना ही अपरिहार्य है जितना ईश्वर जगत् के लिए है। ईश्वर, जो कि जगत् का सृष्टिकर्ता रक्षक और न्यायाधीश है परम से पूर्णतः असंबद्ध नहीं है। मानव तत्त्व की दृष्टि से ईश्वर परम है। जब हम परम को उसकी वास्तविक सम्भावना के संबंध तक सीमित कर देते हैं तब वह सर्वोच्च ज्ञान प्रेम और ध्येय प्रतीत होता है। वास्तव ही प्रथम और अंतिम हो जाता है। शाश्वत में ही परिवर्तनरहित केन्द्र और सभी परिवर्तनों का कारण स्वरूप प्रकृति के अनुक्रम में प्रथम और अंतिम सत्य दृष्ट होता है। विश्व के देश-काल में रूपान्तरित होकर वास्तविकता प्राप्त करने

के पूर्ण परम विश्व का सृजनशील आधार है। वह विश्व का प्रेममय रक्षक है। स्रष्टा और रक्षक के रूप में ईश्वर वास्तविक जगत् क्रम से उसी प्रकार परे है जिस प्रकार पूर्णता अपूर्णता से परे है। वास्तविक क्रम के प्रति ईश्वर की यह आंतरिक सर्वोच्चता मूल्यों की विभक्तियों का अर्थ प्रदान करती है और संघर्ष तथा प्रयास को वास्तविक बनाती है। जब हम सर्वोच्च को विश्व से भिन्न देखते हैं तब उसे परम कहते हैं और जब विश्व के संबंध में देखते हैं तब ईश्वर कहते हैं। परम ईश्वर का ही पूर्व विश्व रूप है और विश्व के दृष्टिकोण से ईश्वर ही परम है।

परम और ईश्वर की धारणा को दार्शनिकता से अनुप्राणित करते हुए राधाकृष्णन जगत् की सत्यता को पौराणिक आख्यानों द्वारा भी पुष्ट करते हैं। हिन्दू धर्म में पौराणिक आख्यानों ने जिस अवतारवाद को प्रतिष्ठित किया है वह जगत् के मिथ्यात्व का विरोधी है। गीता में परम पुरुष कहता है—'जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब मैं अपनी माया से अपने स्वरूप को रचता हूँ।' अतः हिन्दुत्व न केवल ईश्वर को जगत् का स्रष्टा और रक्षक मानता है वरन् उसे परम पुरुष एवं पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित करता है जो सदा प्रियतम और न्यायाधीश है। जो हमें देखता है हमारे रुदन सुनता है और आवश्यकता पड़ने पर सहायक होकर हमारे आर्तस्वर को सुनकर दौड़ता आता है। ईश्वर अपने अवतार रूप में मानव जीवन को अर्थान्वित करता है। वह नैतिक जीवन की पूर्णता तथा वह पूर्ण वास्तविकता है जो धार्मिक चेतना को संतुष्ट करती है। वह उपासना की व्यक्तिगत भक्ति का विषय है। भक्त उसे पहचानने को आतुर है। वह प्रत्यक्ष साथ जीवित संबंध चाहता है। उसे अपना ही देखने का इच्छुक है। भक्त के आचरण की [illegible] ही मोक्षसार है। अतः हिन्दुत्व उस पंथ का मात्र उपासक नहीं है जो अपने ही एकान्तिक के आनंद में रहता है। वह एक ऐसे सार्वभौमिक आत्म-रूप को भी मानता जो ईश्वर रूप पर प्रत्यक्ष स्पन्दन व क्रियाशील रूप एक व्यापक एवं सनातनी निर्विघ्न

होते हैं। अनुभवात्मक जगत् में सत्-असत् का संघर्ष है। दोनों के पारस्परिक विरोध में जगत् का अस्तित्व है। सत्-असत् का भेद अनुभव जन्य है। जिस सत्ता का हम सामान्यतः अनुभव करते हैं वह परम सत्ता नहीं है। जो कुछ भी परम सत्य से मात्रा में कम है उसमें असत् का सम्मिश्रण है। व्यावहारिक अनुभव में सत् और असत् दोनों ही हैं। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यदि एक नहीं है तो दूसरा भी नहीं है। सत् और असत् का संबंध बाह्य नहीं है। किन्तु जब सृष्टि और सृष्टिकर्ता मिल जाते या एकाकार हो जाते हैं तब ईश्वर परम में खो जाता है। सृष्टि समय के साथ विश्व के प्रारम्भ की सूचक है। जगत् काल पर निर्भर नहीं है। जगत् और काल समय और घटना साथ-साथ हैं। घटनाओं के आनुक्रमिक अनुभव के आधार पर काल एक वैचारिक रचना है। विश्व यद्यपि असीमित है किन्तु वह सीमित माना जाता है। उसका आदि और अंत है। विकास और इतिहास विश्व से संबंधित हैं। विश्व सत्य है। यदि विश्व को आदि-अंत युक्त न मानें तो उसे शाश्वत मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में जगत् और ईश्वर उस द्वैत का कारण हो जायेंगे जिसमें इनमें से एक का अस्तित्व भ्रमपूर्ण मानना पड़ेगा। विश्व का आदर्श अनंत मायावी पूर्णता नहीं है जो बिना प्रभाव के वास्तविक विश्व के ऊपर से कार्य करती है किन्तु वह जो विश्व के भीतर से अत्यधिक सत्य और निश्चित रूप से क्रियान्वित है तथा एक अनिर्धारित दिन में प्राप्त हो जायेगी।

ईश्वर की ऐसी धारणा हिन्दुत्व को जीवंत आदर्श से युक्त कर उसे विकास प्रदान कर देती है। राधाकृष्णन ने परम की निषेधात्मक व्याख्या नहीं की है। उसे 'नेति-नेति' द्वारा नहीं समझाया है वरन् 'इति' द्वारा। वेदान्त का निरपेक्ष परम जो जगत् से असंबद्ध है उस सापेक्ष सत्ता के रूप में जीवन का संचालक हो जाता है जो कि अपनी ही अभिव्यक्ति से धार्मिक भाव से संबंधित है। इस व्यापक दृष्टि से देखने से निष्क्रियता पलायन भाग्यवाद और निराशावाद व्यर्थ प्रतीत होते हैं। सापेक्ष सत्ता व्यावहारिक जीवन की आवश्यकता है वह उसका आदर्श और पूर्णता

है। राधाकृष्णन यह भली-भाँति समझते हैं कि निरपेक्ष सत्ता की धारणा ने भारतीय मानस पर कुप्रभाव छोड़ा है। उसे जीवन-शक्ति से रहित कर दिया है। अतः वह सत्ता को निषेधात्मक सम्बन्ध द्वारा नहीं समझाते हैं। सत्य जीवन है। जीवन ज्ञान से अधिक है। अनुभवात्मक ज्ञान की सीमाएँ हैं। हमें उस धार्मिक अनुभूति द्वारा इस सत्य को समझना होगा जो निरपेक्ष को सापेक्ष कर देती है। राधाकृष्णन तत्त्वदर्शन और ईश्वर ज्ञान के द्वारा परम को उस भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप में समझाते हैं जो कि अद्वैत मत का विरोधी नहीं है। उनका परम आधुनिक वैज्ञानिक जीवन और तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। यह शंकर मत का विज्ञानीकरण है।

अध्याय ८

धार्मिक अनुभूति

बौद्धिक सहजबोध

राधाकृष्णन ने परम और ईश्वर की समस्या का समाधान धार्मिक अनुभूति में किया है। धर्म न तो किसी निश्चित विचारधारा या बौद्धिक मत का सूचक है और न वह परम्परा रूढ़ि, अलौकिक आस्था और अंध विश्वास का पर्यायवाची है। उन्होंने हिन्दू धर्म के बाहरी रूप या विधियों को नहीं अपनाया है। उसके अन्तर्निष्ठ सत्य आध्यात्मिकता को अपनाया है। हिन्दू धर्म के चेतनात्मक पक्ष को हिन्दू धर्म कहते हुए वे कहते हैं, हिन्दुत्व किसी सीमा को स्वीकार नहीं करता है। वह सत्यानुभूति को एकमात्र प्रमाण मानता है। हिन्दुत्व ने बुद्धि को सहजबोध निश्चित मत को अनुभव बाह्य अभिव्यक्ति को आंतरिक साक्षात्कार के अधीन माना है। शास्त्रीय अमूर्त तत्त्व को स्वीकार करना या विधियों को मानना धर्म नहीं है। धर्म रीति-रिवाजों की स्वीकृति न होकर एक प्रकार का जीवन या अनुभव है। यह सत्य के स्वरूप का दर्शन सत्य साक्षात्कार या सत्य का अनुभव है। इस अनुभव को रागात्मक आवेग या आत्मगत कल्पना नहीं कह सकते हैं। ऋषि-मुनियों के अनुभवों को मानसिक दुर्बलता या मनोवैज्ञानिक भ्रम कह कर नहीं टाला जा सकता। धार्मिक अनुभवों का इतिहास साक्षी है कि इन अनुभवों की अवहेलना असम्भव है। यह सच है कि धार्मिक सहजबोध या प्रत्यक्ष अन्य प्रत्यक्षों की भाँति भ्रमयुक्त हो सकता है। अतः धार्मिक कहे जाने वाले सभी अनुभवों को सत्य नहीं

कहा जा सकता है। सत्य के उचित ज्ञान के अभाव के कारण कुछ लोग भावनात्मक रोमांच और उदात्त भावना को ही सत्यानुभूति समझ लेते हैं। धार्मिक अनुभव को सामान्य अनुभव से पृथक करने की मनुष्य की भूल के कारण सभी धार्मिक अनुभवों को त्याज्य कहना वैसा ही है जैसा भ्रम सुबोध और भ्रम के कारण सभी इंद्रिय संवेदनों को मिथ्या कहना है। सत्य को समझने के लिए भ्रांतियों से बचना आवश्यक है। इसके लिए सूक्ष्म परीक्षण तार्किक विश्लेषण और सतर्कता की आवश्यकता है। तार्किक निश्चयात्मकता या प्रामाणिकता प्रदान किए बिना धार्मिक अनुभवों को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

हिन्दू धार्मिक दृष्टिकोण अयौक्तिक आस्था और रूढ़िवाद को नहीं अपनाता है। यह बौद्धिक ज्ञान की चरम परिस्थिति का सूचक है तथा आस्थावान् होने के साथ ही आलोचनात्मक भी है। वैदिक काल हिन्दुत्व के निर्माताओं का काल था। वैदिक ज्ञान उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्यानुभूति का सूचक है जिसे मनुष्य का मानस प्राप्त कर सकता है। जिस गुरु-शिष्य परम्परा और शंका-समाधान विधि को उपनिषदों में स्वीकार किया है वह श्रद्धायुक्त जिज्ञासा की है। प्रत्येक परिस्थिति देश और युग में जिज्ञासु को आस्था के साथ प्रश्न करने का अधिकार रहा है। शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करना गुरु का कर्तव्य है और गुरु के वचनों पर श्रद्धा के साथ मनन करना शिष्य का कर्तव्य है। दर्शन की प्रथम स्थिति बौद्धिक समाधान की है तत्पश्चात् निदिध्यासन और आत्मसाक्षात्कार है। किसी दिव्य व्यक्ति के आदेश का यथावत् पालन करने मात्र से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है। हिन्दू धर्म में दर्शन ने इसीलिए प्रयोग को महत्त्व दिया है। उसकी प्रयोगभूमि मानव स्वभाव है। मनुष्य आत्मानुभूति द्वारा ही सत्य का परीक्षण कर सकता है। सत्य प्रेमी परम्परा और स्वीकृत मतों के उसी भाग को स्वीकार करता है जो तार्किक मननियुक्त है एवं जिसे वह पूर्णरूपेण उचित समझता है। वह धार्मिक शास्त्रों और दिव्य व्यक्ति के वचनों को तब तक परम आदेश नहीं मानता जब तक कि

उसकी सत्यता की अनुभूति नहीं कर लेता है। धर्म को यद्यपि अधिकतर बौद्धिक विचारों सौन्दर्य के प्रकारों और नैतिक मूल्यों से युक्त कर दिया जाता है तथापि वह वास्तव में आत्मा का अपने ही साथ न कि किसी अन्य के साथ एक विशिष्ट भाव है। धार्मिक अनुभव को तार्किक निष्कर्ष की भाँति नहीं समझाया जा सकता है। वह तर्क का अतिक्रमण करता है उससे विचार प्रारम्भ होता है और उसी में उसका अन्त होता है। वह स्वतः सिद्ध और स्वतः प्रामाण्य है। वह सत्ता के साथ जीवन्त सम्बन्ध है। धार्मिक सहजबोध विश्वास श्रद्धा और अनुभव के साथ ही बौद्धिक निश्चयात्मकता से सम्पन्न है। इसका बौद्धिक स्पष्टीकरण संभव है। इसकी बौद्धिकता को स्थापित करने के लिए ही हिन्दू ऋषियों ने यह आवश्यक समझा कि वे अपनी गहनतम धारणा को इस भाँति ढालें कि वह अपने समय के विचारों को सन्तुष्ट कर बुद्धिवादियों के तर्क और संदेहवादियों के संदेह को शांत कर सके। हिन्दुत्व धार्मिक सहज बोध को [illegible] मानते हुए भी बुद्धि पर अविश्वास नहीं करता है। वह मानता है दोनों के बीच परम भेद असम्भव है। सहजबोध में बुद्धि की परिपूर्णता निहित है। सहजबोध तर्क-निरपेक्ष और अबौद्धिक नहीं है। वह तर्कोपरि और विवेकोपरि है। वह बुद्धि से उत्पन्न होता है किन्तु अपनी अन्तिम पूर्णता में वह बौद्धिकता का अतिक्रमण करता है। सत्य को समझने के प्रयास में बुद्धि जब अपना अतिक्रमण करती है तब सहजबोध में प्रवेश करती है। सहजज्ञान स्वरूपतः प्रमेयों द्वारा व्यक्त नहीं होने पर भी विश्वसनीय है। समन्वयात्मक अनुभव की परिणति सत्य ज्ञान है। यह तीन प्रकार से प्राप्त होता है—इंद्रिय अनुभव तार्किक चिंतन और प्रेरणात्मक बोध।

इंद्रिय अनुभव जगत् के बाह्य स्वरूप का परिचय देता है। वह वस्तुओं के संवेद्य गुणों का ज्ञान है। इंद्रिय अनुभव का क्षेत्र प्राकृतिक विज्ञान का क्षेत्र है जो उसकी व्याख्या करने के लिए वैज्ञानिक नियम बनाता है। तार्किक ज्ञान विश्लेषण और संश्लेषण से प्राप्त होता है।

तार्किक या प्रत्ययात्मक ज्ञान का स्वरूप अप्रत्यक्ष और सांकेतिक है। ऐंद्रिय अनुभव द्वारा प्राप्त सामग्री के विश्लेषण के परिणामस्वरूप अनुभूत विषय का अधिक व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अनुभव और विश्लेषण की वृद्धि के साथ प्रत्ययात्मक या वैचारिक व्याख्या बदल जाती है। यह व्याख्या हमारी अनुभवयोग्यता रुचियों और क्षमता पर निर्भर रहती है। ऐंद्रिय ज्ञान और तार्किक ज्ञान दोनों ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम व्यावहारिक उद्देश्य की दृष्टि से वातावरण पर नियंत्रण प्राप्त करते हैं। किन्तु सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों ही अपर्याप्त हैं। दोनों ही वस्तुओं की आंतरिकता का बोध नहीं दे पाते हैं। बुद्धि वस्तु को बाहर से घूम कर पाती है, उसके अंतर में पैठ नहीं पाती। वस्तु का विश्लेषणात्मक वर्णन करना और उसको उसकी संपूर्णता में जानना दो भिन्न कर्म हैं। बुद्धि वस्तु को समझने और उसका वर्णन करने के लिए विश्लेषण को अपनाती है। विश्लेषण वस्तु की एकता को छिन्न-भिन्न कर देता है। मात्र बुद्धि द्वारा उपार्जित ज्ञान और सचालित जीवन द्वैतात्मक और भेदात्मक है। बुद्धि जीवन को उसकी समग्रता में नहीं समझ पाती है। सहजबोध सम्यक् सत्य का ज्ञान देता है यह वस्तु को उसके यथार्थ या मूल रूप में जान पाता है। विश्लेषणात्मक होने के कारण बुद्धि वस्तु का तुलनात्मक और विभाजित अध्ययन करती है वस्तु को उसके सम्बन्धों और भागों में विभाजित करके जानती है। वैचारिक ज्ञान और अनुभूत भाव का अंतर इन्द्रधनुष के विभुद्ध सौन्दर्य का आस्वादन करना और उसके स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करना है। किसी वस्तु को उसके सम्यक् रूप में देखने और उसका रसात्मक विश्लेषण करने में अंतर है। एक वस्तु का तादात्म्य अनुभव है दूसरा उसके स्वरूप को विभिन्न भागों में खण्डित कर देता है। वस्तु का ज्ञान और वस्तु एक होते हुए भी वैचारिक स्तर पर भिन्न हो जाते हैं। यह बुद्धि और सहजबोध की भिन्नता है। बुद्धि वस्तु को उसके अनुरूप सम्यक् सौन्दर्य में प्राप्त करने में

हो जाता ज्ञान के विषय में मिल जाता है। यह तादात्म्य है। इस स्थिति में ज्ञात विषय आत्मा से बाहर नहीं रहता है किन्तु उसीका अंग बन जाता है। चैतन्य का स्फुरण ही सहजज्ञान है। सहजबोध चैतन्य के सिद्धान्त को प्रकाशित नहीं करता। यह एक मानसिक स्थिति है न कि विषय की परिभाषा। ऐसे आत्मस्थित ज्ञान को विचार तार्किक रूप से ही अभिव्यक्त और प्रस्तुत कर पाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का घनिष्ठ और गूढ़ सम्बन्ध ही सहजज्ञान है जिसमें ज्ञाता ज्ञेय के साथ जानने के क्रम में एकत्व स्थापित करता है। तार्किक ज्ञान इस एकत्व का खण्डन कर देता है। यह द्वैतयुक्त होने से वस्तु के ज्ञान और उसके अस्तित्व में भेद देखता है। तार्किक ज्ञान अनुभवात्मक है। अनुभवात्मक स्तर पर वस्तु और उसके ज्ञान में भेद है। वस्तु को जानना और वही हो जाने में भेद है। विचार, सत्ता को अभिव्यक्त करने में ज्ञाता और ज्ञेय के बिच भेद को प्रस्तुत करता है वह वास्तविक न होकर मात्र तार्किक है। सहजबोध में सत्य अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित होता है। भेद की दूरी एकता में मिट जाती है। वह जो जानता है और वह जो जाना जाता है वास्तव में एक ही है। अतः सत्यानुभूति की स्थिति सहजबोध या चैतन्यता में विचार और सत्ता जो मूलतः एक ही है, एकत्व प्राप्त कर लेते हैं। अपरोक्ष ज्ञान में सत्ता के साथ साक्षात्कार हो जाता है। ब्रह्म को जानना ब्रह्म हो जाना है। सहज अन्तर्दृष्टि इसीलिए, स्वतन्त्रता मुक्ति अथवा मोक्ष है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। सहजबोध आत्मा का ज्ञान है। अपने से एकत्व प्राप्त कर अपने बारे में सचेत होना है। यही ब्रह्म-साक्षात्कार है। ब्रह्म परम सत्ता का प्रतीक है, यह अंतिम ज्ञान सहजज्ञान एवं सहजबोध जन्य प्रज्ञा है।

हिन्दू धर्म ने सहजज्ञान को सर्वोच्च माना है। उनके अनुसार वे श्रेष्ठ धारणाएं, जो जीवन के दुःसाध्य कार्यों पर नियन्त्रण रखती हैं सहजबोध-जन्य सहज सत्य हैं जिन्हें आत्मा के महानतम अनुभवों ने उत्पन्न किया है। शंकराचार्य ने प्रत्यक्षानुभव या अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सहज

असमर्थ है। सत्य को आत्मसात् करने के लिए तार्किक चिंतन का अति-क्रमण करना होता है। ऐंद्रियज्ञान या ऐंद्रिय प्रत्यक्ष से भ‍और धुरणात्मक रूप से भिन्न अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अपरोक्ष या तात्कालिक ज्ञान है। यह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब मानस और सत्ता एक दूसरे से असम्बद्ध घुलमिल जाते हैं। सहजबोध तार्किक ज्ञान की विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक पद्धति को नहीं अपनाता है। यह वस्तु के स्वरूप को अंशों में विभाजित करने के पश्चात् उन्हें युक्त नहीं करता है। तार्किक ज्ञान यदि संपश्चित ज्ञान देता है तो सहजबोध अखण्ड और संगतिपूर्ण ज्ञान देता है। यह वस्तु जैसी है, उसके वैसे ही स्वरूप से पूर्ण अवगत करा देता है। विचार वास्तविकता के 'तत्' और 'क्या' के अपूर्ण स्वरूप के भेद में रहता है। 'क्या' को कितना ही व्यापक बना दिया जाए वह सम्पूर्ण अस्तित्ववान् वास्तविकता का समावेश नहीं कर पाता है। वास्तविकता बुद्धि की पहुँच के परे है। बुद्धि भावना संवेग दैहिक सुख दुःख आत्मा के उल्लास आदि का वैचारिक वर्णन-भर कर सकती है किन्तु उनके वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्ति नहीं दे सकती। बुद्धि द्वन्द्वात्मक तार्किक और सापेक्ष है। वह उस सम्यक् अनुभव या व्यापक एकता को जिसमें विचार, भावना और कर्म सम्पूर्णता में मिल जाते हैं तब तक नहीं समझ पाती है जब तक कि वह स्वयं अपना अतिक्रमण नहीं कर लेती है। सहजबोध का सृजनात्मक प्रयास इस संपूर्णता को आत्मसात् करने का है न कि उसका बौद्धिक विभाजन करने का। यह ज्ञान अतीन्द्रिय और अपरोक्ष है। यह मात्र ऐंद्रिय संवेदनजन्य या बुद्धिजन्य नहीं है। जब मानस का सत्ता के साथ अंतरंग मेल हो जाता है तब इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह तदाकार हो जाने से प्राप्त ज्ञान है न कि ऐंद्रिय या सांकेतिक बोध। यह वस्तुओं की सत्यता का तादात्म्यजन्य बोध है। यदि तार्किक ज्ञान अनुमानात्मक सत्य देता है तो सहजबोध परम सत्य देता है। सहजबोध न तो अमूर्त विचार और विश्लेषण है न आकार हीन अन्धकार और न आदिम अनुभव वह प्रज्ञा है सत्य के साथ एक

हो जाता ज्ञान के विषय में मिल जाता है। यह तादात्म्य है। इस स्थिति में ज्ञात विषय आत्मा से बाह्य नहीं रहता है किन्तु उसीका अंग बन जाता है। चैतन्य का स्फुरण ही सहजज्ञान है। सहजबोध चैतन्य के सिद्धान्त को प्रकाशित नहीं करता। वह एक मानसिक स्थिति है न कि विषय की परिभाषा। ऐसे आत्मस्थित ज्ञान को विचार तार्किक रूप से ही अभिव्यक्त और प्रस्तुत कर पाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का घनिष्ठ और पूर्ण सम्बन्ध ही सहजज्ञान है जिसमें ज्ञाता ज्ञेय के साथ जानने के क्रम में एकत्व स्थापित करता है। तार्किक ज्ञान इस एकत्व का खण्डन कर देता है। वह हेतुयुक्त होने से वस्तु के ज्ञान और उसके अस्तित्व में भेद देखता है। तार्किक ज्ञान अनुभवात्मक है। अनुभवात्मक स्तर पर वस्तु और उसके ज्ञान में भेद है। वस्तु को जानना और वही हो जाने में भेद है। विचार, सत्ता को अभिव्यक्त करने में ज्ञाता और ज्ञेय के बिच भेद को प्रस्तुत करता है वह वास्तविक न होकर मात्र तार्किक है। सहजबोध में सत्य अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित होता है। भेद की दूरी एकता में मिट जाती है। वह जो जानता है और वह जो जाना जाता है वास्तव में एक ही है। अतः सत्यानुभूति की स्थिति सहजबोध या चैतन्यता में विचार और सत्ता को मूलतः एक ही है एकत्व प्राप्त कर लेते हैं। अपरोक्ष ज्ञान में सत्ता के साथ साक्षात्कार हो जाता है। ब्रह्म को जानना ब्रह्म ही जाना है। सहज धर्मदृष्टि इसीलिए, स्वतन्त्रता मुक्ति अथवा मोक्ष है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। सहजबोध आत्मा का ज्ञान है। अपने में एकत्व प्राप्त कर अपने बारे में सचेत होना है। यही ब्रह्म-साक्षात्कार है। ब्रह्म परम सत्ता का प्रतीक है वह पवित्र ज्ञान सहजज्ञान एवं सहजबोध जन्य प्रज्ञा है।

हिन्दू धर्म ने सहजज्ञान को सर्वोच्च माना है। उसके अनुसार व श्रेष्ठ धारणाएँ, जो जीवन के कुशाग्य कार्यों पर नियन्त्रण रखती हैं सहजबोध-जन्य महान सत्य हैं जिन्हें आत्मा के गहनतम अनुभवों ने उत्पन्न किया है। शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभव या अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सहज

बोध की श्रेष्ठता स्थापित की है। इसे सर्वोच्च प्रकार का बोध निश्चित स्पष्ट जीवंत अपरोक्ष और स्वयंसिद्ध माना है। बुद्ध ने भी बोधि अथवा पूर्णज्ञान या प्रकाश को तर्क से श्रेष्ठ माना है। तर्क एवं विवेक का अपरिपक्व मानस दुरुपयोग करता है, उसे आत्मकल्प का पर्याय बना कर पक्षपात से युक्त कर देता है। फिर विवेक द्वन्द्वात्मक है। यह जो द्वन्द्व से परे है उसे उसके मूल में विवेक द्वारा नहीं जान सकते हैं। द्वन्द्वात्मक श्रेष्ठ ज्ञान अनुभवात्मक व्यावहारिक सत्य से युक्त होने पर भी श्रेष्ठ जीवन के लिए बाधक है। सत्य समस्त आत्मा के अनुभव का विषय है। सत्य में रह कर ही सत्य को जाना जा सकता है। चिंतन और तर्कपूर्ण ज्ञान के स्थान पर भाव सामान्य ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। पूर्ण ज्ञान विज्ञान (तार्किक ज्ञान) या संज्ञा से अथवा संवेदज्ञान से ऊपर है। बुद्धि और सामान्य अनुभव का अतिक्रमण करके ही हम सहजबोध को प्राप्त करते हैं। हिन्दू दार्शनिकों ने प्रज्ञा अथवा सहज अंतर्दृष्टि को मानस की सर्वोच्च क्रिया या स्थिति इसी अर्थ में घोषित किया है कि यह द्वन्द्व रहित एकता की स्थिति है। यह सत्तात्मक एकता में रहना एवं आत्मा का स्वतः का अनुभव अथवा अपरोक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ज्ञान अनुमानित हैं। शंकराचार्य ने सहजज्ञान को आत्मज्ञान कहा है। आत्मज्ञान न तार्किक है न इंद्रियजन्य और न बौद्धिक ही है। 'यह न वाणी से न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है। पर यह ज्ञान अन्य प्रकार के ज्ञानों का विरोधी नहीं है बल्कि उनको पूर्ण मान्यता देता है। सहजबोध का सम्बन्ध बुद्धि से वैसा ही है जैसा बुद्धि का इंद्रियज्ञान से है। एक की पूर्णता दूसरे का उदय या आरम्भ है। बुद्धि का विरोधी न होते हुए भी सहज बोध बुद्धि से परे है। यह समग्र अनुभव सम्यग्ज्ञान या पूर्णज्ञान है। समग्र अनुभव के लिए वैचारिकज्ञान आवश्यक है। सहजज्ञान का समग्र स्वभाव शेष अस्तित्व सांसारिक जीवन और वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं है। यह बुद्धि में सन्निहित है। यह समस्त नैतिक बौद्धिक स्वभाव को एक ही

लक्ष्य पर केन्द्रित करना है। सहजज्ञान प्रत्यक्ष का वह प्रकार है जो इन्द्रियों से परे है। यह हमारी सत्ता का निरपेक्ष दर्शन एवं विभाजित मानस के प्रातिभ तत्वों का अतिक्रमण है। यह वह स्थिति है जिसमें विषय-विषयी का द्वैत नहीं रहता। यह चैतन्य की समग्र अविभाजित स्थिति है जिसमें मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता अपने को उपलब्ध करती है। सहजबोध आत्मज्ञान है। इसकी अखण्ड एकता में बौद्धिक भेद का अतिक्रमण हो जाता है। बौद्धिक भेद के मिटने से कालिक भेद भी मिट जाता है एवं कालरहित सत्ता मे सब-कुछ विलीन हो जाता है। न भूत ही रहता है न वर्तमान और न भविष्य ही। यह वास्तव वर्तमान चैतन्य और अस्तित्व का एकत्व है। आत्मज्ञान आत्म-अस्तित्व है। यह स्वतः प्रामाण्य निराकर्ता 'अहं' के प्रत्यय का विषय तथा प्रत्यगात्मा है। यह सभी प्रमाणों का आश्रय है। जो प्रमाणों का आश्रय है उसे प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह निरपेक्ष असंदिग्ध तथा निश्चयात्मक है। जीवन के गहनतम सत्य उसी के द्वारा समझे जा सकते हैं। पारेन्द्रिय ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान अपरोक्ष दर्शन असाधारण दृष्टि आदि को न हम तर्क द्वारा समझ सकते हैं और न इन्द्रियबोध द्वारा ही। उन्हें मनो-वैज्ञानिक प्रवंचना कह कर न हम उनकी उपेक्षा से ही देख सकते हैं। वे उस सत्य की उपलब्धि कराते हैं जो स्वतः स्पष्ट है।

सहजबोध ज्ञाता प्रेम की अबाध एकता का प्रतीक है। इसमें अस्तित्व ही चेतना है चेतना ही अस्तित्व है। जीवात्मा का जीवत्व विश्वात्मा में मिल जाता है। विश्वात्मा ही जीवात्मा के सत्य के रूप में प्रकाशित होता। यह पूर्ण व्यापक और पर्याप्त अनुभव है। अतः सत्य बोध या दर्शन को तर्क ज्ञानमीमांसा मनोविज्ञान या सैद्धान्तिक तत्व दर्शन से सिद्ध नहीं किया जा सकता यह अनुभूति का विषय आत्मा नुभूति या आत्म-साक्षात्कार है। यह अपना स्वयं कारण प्रमाण और स्पष्टीकरण है। स्वयंसिद्ध स्वसम्बोध और स्वप्रकाश है। यह न तर्क करता है और न व्याख्या ही किन्तु यह जानता है और है। हिमुल्ल सहजबोध को तर्क और प्रमाण से परे बतलाते हुए भी उसे बुद्धि का

विरोधी नहीं मानता । यह वह सत्य है जो आत्मा की पूर्ण संतोषिक और संतुलित स्थिति तथा द्वन्द्व और संदेह से मुक्ति की स्थिति है। इसमें बुद्धि संकल्प और संवेग पूर्णतः समन्वित एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं और व्यक्ति अपनी अंतर चेतना से एक हो जाता है। यह विशुद्ध चिन्तन एवं ध्यान समस्त सर्वज्ञता और पूर्ण प्रामाणिकता है। पतंजलि इस अंतर्दृष्टि के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि यह सत्य है पूर्ण तथा सत्य का वाहक है। ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। अतः अपरोक्ष ज्ञान ही सत् और यथार्थ ज्ञान है। किन्तु इस अपरोक्ष को अपनाने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता है वास्तविक अपरोक्ष और व्यावहारिक प्रत्यक्ष अपरोक्ष में भेद है। निरपेक्ष ज्ञान एवं वास्तविक अपरोक्ष अपनी पूर्ण यथार्थता में सहज अंतर्दृष्टि या अनुभवातीत है। यह परोक्ष से अधिक अपरोक्ष है, वैचारिक से अधिक प्रत्यक्ष तथा ठोस है। वस्तुओं को उनकी अद्वितीयता उनकी अपरिच्छिन्न सत्यता में समझना सहजबोध है। यह अत्यधिक गहन और प्रत्यक्ष है। इसमें सामान्य जीवन का विकास विलीन होकर आंतरिक शांति शक्ति और आनंद को उत्पन्न कर देता है। ऐसी शांति को निश्चलता और विश्वास की यथार्थ भावना है दुःख अथवा हानि और निराशा के मध्य आनंद और शक्ति है अंधकार में प्रकाश उदासीनता में उत्साह तथा निराशा में आश्वासन है। ऐसे अनुभव की अविच्छिन्नता स्वर्गिक जीवन का निर्माण तथा स्वर्ग में रहना है। स्वर्ग वह स्थान नहीं है जहाँ देवता निवास करते हैं वह जीवन की वह पद्धति है जो सर्वथा और पूर्णतया यथार्थ है।

राधाकृष्णन का कहना है हिन्दू और और बौद्ध विचारधारा आत्मा के इस पक्ष जीवन की आराधी है। किन्तु पाश्चात्य मानस उसे संशय से देखता है। इसका मूल कारण यह है कि पाश्चात्य परम्परा के अनुसार मनुष्य मात्र बौद्धिक प्राणी है। उसका चिन्तन तार्किक और संदेहवादी है। उसके कर्मों का मापदण्ड उपयोगिता का बोध कराता है। धार्मिक अनुभूति को उपेक्षा से देखने के मूल में पश्चिम के पास इसके अतिरिक्त

विरोधी नहीं मानता । यह वह सत्य है जो आत्मा की पूर्ण संयोजित और संतुलित स्थिति तथा द्वन्द्व और संदेह से मुक्ति की स्थिति है । इसमें बुद्धि संकल्प और संवेग पूर्णतः समन्वित एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं और व्यक्ति अपनी अंतर चेतना से एक हो जाता है । वह विशुद्ध चिन्तन एवं ध्यान समस्त अर्थवत्ता और पूर्ण प्रामाणिकता है । पातंजलि इस अंतर्दृष्टि के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि यह सत्य से पूर्ण तथा सत्य का वाहक है । ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । अतः अपरोक्ष ज्ञान ही सत्य और यथार्थ ज्ञान है । किन्तु इस अपरोक्ष को अपनाने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है वास्तविक अपरोक्ष और व्यावहारिक प्रेरणाजन्य अपरोक्ष में भेद है । निरपेक्ष ज्ञान एवं वास्तविक अपरोक्ष अपनी पूर्ण यथार्थता में सहज अंतर्दृष्टि या अनुभवबोध है । यह परोक्ष से अधिक अपरोक्ष है वैचारिक से अधिक प्रत्यक्ष तथा ठोस है । वस्तुओं को उनकी अद्वितीयता उनकी अपरिहार्य सत्यता में समझना सहजबोध है । यह अत्यधिक गहन और प्रत्यक्ष है । इसमें सामान्य जीवन का विभाव विलीन होकर आंतरिक शांति शक्ति और आनंद को उत्पन्न कर देता है । ऐसी शांति जो निश्चलता और विश्वास की यथार्थ भावना है दुःख पराजय हानि और निराशा के मध्य आनंद और शक्ति है अंधकार में प्रकाश उदासीनता में उल्लास तथा निराशा में आश्वासन है । ऐसे अनुभव की अविच्छिन्नता स्वर्गिक जीवन का निर्माण तथा स्वर्ग में रहना है । स्वर्ग वह स्थान नहीं है जहाँ देवता निवास करते हैं वह जीवन की वह पद्धति है जो सर्वथा और पूर्णतया यथार्थ है ।

राधाकृष्णन् का कहना है हिन्दू और और बौद्ध विचारधारा आत्मा के ऐसे श्रेष्ठ जीवन की आकांक्षी है । किन्तु पाश्चात्य मानस उसे संशय से देखता है । इसका मूल कारण यह है कि पाश्चात्य परम्परा के अनुसार मनुष्य सारतः बौद्धिक प्राणी है । उसका चिंतन तार्किक और संदेहवादी है । उसके कर्मों का संचालन उपयोगिता का बोध करवाता है । धार्मिक अनुभूति को उपेक्षा से देखने के मूल में पश्चिम के पास इसके अतिरिक्त

दर्शन है। बुद्धि और सहजबोध क्रमिक शृंखला बनाते हैं। उनकी अभि-
व्यक्ति किसी प्रकार खंडित नहीं होती है। सहजबोध में हम उस महत्तम
बौद्धिकता में आते हैं जिसे प्राप्त करने की मानव स्वभाव में क्षमता है।
सहजबोध में अधिक गंभीरता से चिंतन किया जाता है, अधिक तीव्र
अनुभूति होती है और अधिक सत्यता से देखा जाता है। इस समय अपने
सम्पूर्ण स्वभाव के आधिपत्य में होकर रहते और अनुभव करते हैं। तब
हम मात्र बुद्धि के तार्किक मापदण्डों से वस्तुओं को नहीं सोचते हम
समग्रता और सम्पूर्णता के साथ सोचते और अनुभव करते हैं। जहाँ बुद्धि
एक विशिष्ट अंग की सूचक है वहाँ सहजबोध समस्त आत्मा का समावेश
करता है। बुद्धि और सहजबोध का यह भेद परम नहीं है। दोनों ही
आत्मा में हैं। दोनों का ही आत्मा से संयोग होता है और दोनों की
क्रियाएँ परस्पर आश्रित होती हैं। सहजबोध जन्म जात बौद्धिक-रिक्तता
का सूचक नहीं यह मात्र वैचारिक अभाव का द्योतक है। यह वास्तव
में बौद्धिक सहजबोध है जिसमें बाह्यान्तर और परोक्षान्तर समाविष्ट
हो जाते हैं। राधाकृष्णन की धारणा है कि सहजबोध का विकास और
उचित प्रशिक्षण आवश्यक है। क्योंकि यह उन्हीं के लिए कहा जा सकता
है जिनका सहजबोध पूर्ण विकसित नहीं है। सम्पूर्ण आत्मा द्वारा सम्पादित
ज्ञान सहजबोध है जो अपने अर्थों में—चाहे वह भावना हो या बुद्धि—
पूर्ण है। यह ज्ञान की पूर्णता का परिचायक तथा सम्पूर्ण ज्ञान है।
इसके विपरीत बौद्धिक ज्ञान सदैव ही सम्भावित को प्राप्त हो सकता है।
सहजबोध में विषय या सम्भावित का ज्ञान नहीं पाता। पर ऐसा पूर्ण
सहजबोध के लिए ही कहा जा सकता है। पूर्ण सहजबोध का सार यह
दर्शन है जो सर्वोचित दर्शन और दर्शिता है। ऐसे दर्शन का सहज-
बोध न मात्र बौद्धिक विश्लेषण है न ज्ञानेन्द्रियजन्य बोध और न यह
अन्तर्दृष्टि सम्बन्धों का ही उत्तर है। यह जीवन को परिवर्तित देता
है। यह निश्चयात्मक निरपेक्ष है। सत्ता में वे विशुद्ध स्वतंत्र है।
किसी प्रकार से भी सत्य ज्ञान जो दर्शन बिना सहजबोध के सम्भव नह

दुर्बलता और दुःख का जनक है। अविद्या संसार द्वैत और दुःख है, विद्या मोक्ष एकता और दिव्यता है। दिव्यता आनन्द और स्वातंत्र्य है। यह सभी प्रकार के बाह्य प्रभावों भय और दुःख से छुटकारा है। यह जिसे सहजबोधजन्य ज्ञान प्राप्त हो गया है विश्व के सार का ज्ञाता है। विश्व के सारतत्व को जानना दिव्य हो जाना है। ब्रह्म को हम तब तक पूर्ण या सच्ची तरह नहीं जान सकते जब तक हम उसके सारतत्व के भागी बन कर उसके साथ एक न हो जाएं। ब्रह्म को सच्चे अर्थ में जानना ब्रह्म ही हो जाना है। यह सत्तात्मक एकता में रहता है। अपने पराए के भेद को भूलना एवं अहं का त्याग करता है। यह विश्वात्मा का दर्शन एवं विश्व दर्शन का प्रतिपादन तथा वसुधैव कुटुम्बकम् का रूप है। सहजबोध ही उस चैतन्य प्रकाश से मानव मनों को आलोकित करता है जो स्नेह प्रेम और कल्याण है। मानव की जिस सर्वोच्च शान्ति की स्थापना करने में तार्किक चिंतन असमर्थ है उसे सहजबोध सहज ही स्थापित कर देता है। विश्व की वस्तुओं के सार को जानना ब्रह्म को जानना है। उसके कारण को समझना अमर्यादित होता है। विज्ञान ने मानवता को उस आनन्द से वंचित कर दिया है। इसी कारण के बोध के अभाव में मानव मात्र राक्षस की श्रेणी में जा रहा है। यह विश्व की अनेकता को एक दूसरे से वियुक्त करके स्वार्थान्ध हो रहा है। मानव जीवन में शान्ति लाने एवं विविधता के सारतत्व को समझने के लिए सहजबोध की आवश्यकता है। बिना सहजबोधजन्य ज्ञान के मानवता की रक्षा संदिग्ध है।

यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है कि बुद्धि से सहजबोध की ओर जाने में हम अबौद्धिकता में प्रवेश करते हैं। यदि सहजबोध को बुद्धि का परित्याग करना है व्यर्थ है। बुद्धि और सहजबोध में असंगतता होने के विपरीत सजीव ऐक्य है। सहजबोध बुद्धि के परे अवश्य है किन्तु उसका विरोधी नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण व्यक्ति की वास्तविकता है जिसमें बुद्धि की क्रियाशीलता भी निहित है प्रतिक्रिया है। यह सम्यक्

विधान में संगति और एकता देखती है। ऐसी स्थिति में विचार, वास्तव में मनुष्य की चेतना से निर्देशित तथा हमारे अंतर की दिव्यता से संचालित होता है। विश्व की संगति जीवन की वह अटूट धारणा है जिसे मात्र तर्क या चिंतन से नहीं समझाया जा सकता है। यह बुद्धि-सम्मत अवश्य है किन्तु मात्र बुद्धि द्वारा उपार्जित नहीं है। यह सहजबोधजन्य है। सहजबोध उतना ही समर्थ है जितना कि जीवन जिसकी आत्मा से यह अनुस्यूत हुआ है। सहजबोध बतलाता है कि विश्व आध्यात्मिक विधान है, यद्यपि इसके बारे में स्पष्ट और अपरियुक्त तार्किक प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। सहजबोध द्वारा हम उस एकता और समति के प्रति सचेत हो जाते हैं जिसे आलोचनात्मक बुद्धि प्राप्त करने का प्रयास करती है। यह सच है कि जगत् की आध्यात्मिक समति पर जो सहज आस्था है, उसकी तार्किक व्याख्या करना असाध्य है। पर साथ ही सहजबोधजन्य ज्ञान का न तो निराकरण ही संभव है और न ऐसा करना मनुष्यों के हित में ही है। यदि हम सहजबोध के स्वयंसिद्ध स्वतः प्रामाण्य सार्वभौम प्रमेयों को नहीं अपनायेंगे तो जीवन असंभव हो जायेगा। श्रेष्ठतम वांछनीय धारणाएं शुभत्व संगति और सौंदर्य तथा आनन्द की धारणाएँ सहजबोधजन्य हैं। ये बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकतीं किन्तु ये अलौकिक और मिथ्या भी नहीं हैं। इनकी सार्थकता का अनुमोदन सहजबोध करता है अथवा तर्कशास्त्र विज्ञान कला और सौंदर्यशास्त्र की आधारभूत मान्यताओं एवं विश्व की नैतिक पूर्णता तार्किक संगति कला और सौंदर्य का स्रोत सहज अन्तर्दृष्टि अथवा सहजबोध है। ये आत्मा के अनुभव सहज प्रेरणाएँ और बोध हैं। वे उतने ही विवेकसम्मत हैं जितना कि भौतिक विश्व है। इन्हीं का अवलम्ब लेकर हम कहते हैं कि जीवन अर्थगर्भित एवं प्रयोजनीय है। जीवन में निराशा के लिए स्थान नहीं है। हम जीवन को सार्थक शुभ और सुन्दर बना सकते हैं। वस्तुओं का आभ्यंतरिक स्वरूप शुभ है। विश्व शीलजन्य है। जीवन का ध्येय शुभत्व की प्राप्ति है न कि मात्र भौतिक सुख का अर्जन। हमारा दृष्टिकोण उपभोगितावादी न होकर

कर सकता है। इसका स्पष्ट प्रमाण आज के युग का साहित्य कला और दर्शन है। मनुष्य को उचित प्रेरणा देने और उसे मार्गदर्शित करने में वे असमर्थ हैं क्योंकि इनकी जन्मदात्री अनुभूति महत्तम नहीं है। वही रचना श्रेष्ठ है जो दिव्य अनुभूति का रसास्वादन कराती है। वही ज्ञान सच्चा है जो अंतरतम से स्फुरित होता है। सहजबोध के बिना जीवन के किसी भी क्षेत्र का समुचित ज्ञान और उसका सत्य आकलन असम्भव है। महान् आविष्कार और विशुद्ध गणित की समस्याएं भी इसकी अपेक्षा रखते हैं। आज आवश्यकता है कि हम सहजबोध को समझें, तथा उसके मूल्य और उपयोगिता पर ध्यान दें। जीवन को सुख बनाने के लिए उसे बुद्धि के साथ ही सहजबोध से नियमित करें। सहजबोध ही उस एकता शान्ति और कल्याण की विश्व में स्थापना कर सकता है जिसके बिना मानव जीवन विलोडित अन्धकारमय होता जा रहा है। सहजबोध उन सार्वभौम मुख्य मूल्यों को देता है जो स्वतःप्रामाण्य हैं। उनकी सत्यता का न तो प्रश्न ही उठता है और न वह तार्किक पद्धति से सिद्ध ही की जा सकती है। यह उन मान्यताओं की ओर हमें ले जाता है जिनके बिना जीवन निरुद्देश्य और कुण्ठित हो जायेगा।

वर्तमान युग विश्व-शान्ति विश्व-ऐक्य सह-अस्तित्व और सह-जीवन की पुकार कर रहा है। पर यह सचेत ज्ञान और विवेक की दृष्टि से रिक्त ध्वनियाँ हैं। सचेत ज्ञान और विवेक जगत को बाह्य भाव से संबन्धित विषयों की विभिन्नता मानते हैं। तर्क इस विभिन्नता को चरम नहीं मानता। यह विभिन्नता को संघटित देखता है, जगत् को स्वयं स्थित समग्रता तथा तर्क-संगत अनेकता मानता है। यह ज्ञान की माँग स्थापना भी है। ज्ञान की सर्वोचित क्रियाशीलता व्यर्थ हो जायेगी यदि हम विश्व की यौक्तिकता को अस्वीकार कर दें। ज्ञान जगत को यौक्तिक और आध्यात्मिक मानता है। विश्व की सुसंगठित संगति की धारणा तार्किक निष्कर्ष मात्र नहीं है। यह आस्था या धार्मिक विश्वास है जो हमें ऐसे निष्कर्ष की ओर ले जाता है। आत्मा स्वयं एकता है। यह प्रकृति के

रित हैं। ऐसे नियमों का पालन जन सामान्य साम्प्रदायिक अथवा पुरस्कार की इच्छा और दण्ड भय से करता है इसलिए नहीं कि वे उसकी अन्तरात्मा द्वारा प्रेरित हैं। ये नियम उसे धार्मिक आनन्द देने में असमर्थ हैं। ये मात्र उस मनोमालिन्य फूट और घृणा का प्रचार कर रहे हैं जो आज विश्व में सर्वत्र धर्म के नाम पर मिलती है। राधाकृष्णन का कहना है कि धर्म बाह्याडम्बर नहीं है। वह धार्मिक जीवन एवं प्रज्ञा है। धर्म तत्त्व से अवगत हुए बिना अथवा अन्तर से सत्य को समझे बिना हम धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते हैं। अन्तर्ज्ञान सहजबोध एवं सम्बोधि है। सच्चे अर्थ में धार्मिक वही है जिसे सम्बोधि प्राप्त हो गई हो। धर्म स्वानुभूतिजन्य है। वह आध्यात्मिक विश्वास है। समस्त व्यक्तित्व या सम्यक् आत्मा के केन्द्रीय सत्य का अनुभव या उसके प्रति प्रतिक्रिया ही धार्मिक अनुभव है। इसे न तो तारतम्य कल्पना कह सकते हैं और न अन्तर का समर्थन ही। यह उसका बोध है जो कि मात्र व्यक्ति से परे है। जीवात्मा के एकान्त को यह विश्वात्मा भंग कर देती है जिसे व्यक्ति अपना ही अनुभव करने लगता है। विश्वात्मा जीवात्मा में प्रकट होकर विश्व की रागात्मक एकता को चरितार्थ कर देती है। सहजबोधजन्य आस्था की तुलना किसी एक के विचार अथवा तर्कों द्वारा स्वीकृत मत से नहीं कर सकते हैं। दूसरे द्वारा अर्जित मत को चाहे वह सत्य ही हो स्वीकार-मात्र करना धर्म नहीं है। धर्म आत्मा की अन्तर्दृष्टि है वह शक्ति जिसके द्वारा आध्यात्मिक वस्तुओं तथा सत्य को आत्मा उतनी ही सहजता से समझ लेती है जितनी सहजता से ऐन्द्रिय भौतिक वस्तुओं को देखती है। ज्ञानियों को अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के बारे में विश्वास संशयहीनता और प्रामाणिकता की वैसी ही भावना होती है वैसी कि हमें अपने भौतिक प्रत्यक्ष के बारे में होती है साक्षात् इन चर्मचक्षु।

धार्मिक ज्ञान सहजबोध या सत्य अनुभूति है। सहजबोधजन्य ज्ञान ही प्रामाणिक स्पष्ट निर्भ्रान्त और श्रेष्ठ है। किन्तु कठिनाई तब आती

आध्यात्मिक होना चाहिए। प्रकृति के जगत् और चेतना के जगत् के साम्य को अथवा अस्तित्व और मूल्य के ऐक्य को सांसारिक बुद्धि समझने में असमर्थ है। ये हमें सद्गुण और शुभत्व का संदेश देते हैं। सहजबोध हमें बताता है कि प्रकृति शुभत्व की प्राप्ति के लिए क्रियाशील है। हमें अच्छा बनना है। शुभ हमारा लक्ष्य है और इसी का हमें सायास में वरण करना है। तर्क और नैतिकता के स्वीकृत आधार-स्वरूप मूल्य सहज बोधजन्य हैं। ये मनुष्य चेतना के वे तत्त्व हैं जो जीवन को शासित करते हैं। मानव हृदय शुभ सौंदर्य और कल्याण का आकांक्षी है। वह दुःख अविद्या और कुरूपता को मिटाने का स्वभावतः प्रयास करता है। ये उसकी सच्ची आत्मा के प्रतिरूप हैं। मनुष्य में अपने आत्मस्वरूप को पहिचानने की सहज जिज्ञासा है। वह अपनी वास्तविक आत्मा से अभेद होकर उसकी संभावनाओं की महत्ता में पैठना चाहता है। आत्म ज्ञान में सभी प्रकार के सहजबोधों का समावेश है। मनुष्य के मानस का चेतना से युक्त होना ही आत्मज्ञान है। ज्ञान की सर्व विधि उन्नति आत्म ज्ञान का विस्तार तथा मानव मन का अपने अन्तर की चेतना से अधिका-धिक समीकरण है। सभी अनुभव आत्मा से उद्भूत होते हैं और उसी से मान्यता पाते हैं। वह बुद्धि और इन्द्रियों की पकड़ के परे है यद्यपि ये दोनों उसीके द्वारा चलते हैं।

सहजबोध से निर्देशित मार्ग सच्चा धार्मिक मार्ग है। धार्मिक वह है जो जनमत परम्परा और रूढ़ि-रीतियों का पालन तभी करता है जब उन्हें उसके सहजबोध की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। किन्तु जब मन मानव मन को मात्र विशाल परम्परागत व्यवस्था का प्रतिबिंब मान कर उसे मौलिकता और सम दृष्टि से वियुक्त कर देता है तब वह धर्म के नाम पर उस अन्धविश्वास और रूढ़िवाद की चादर ओढ़ लेता है जो कृत्रिम और विद्वेषमूलक है। ऐसा धर्माचरण धार्मिक जीवन नहीं है। केवल पुरोहितों या ग्रन्थों के आदेश का अंधवत् पालन करना उन बाह्य नियमों का पालन करना है जो अन्तर्ज्ञान-शून्य एवं सत्य की चेतना से

रिक्त है। ऐसे नियमों का पालन जन सामान्य बाह्यतावश अथवा पुरस्कार की इच्छा और दण्ड भय से करता है इसलिए नहीं कि ये उसकी सत्यात्मा द्वारा प्रेरित हैं। ये नियम उसे आत्मिक आनन्द देने में असमर्थ हैं। ये मात्र उस मनोमालिन्य फूट और घृणा का प्रचार कर रहे हैं जो आज विश्व में सर्वत्र धर्म के नाम पर मिलती है। राधाकृष्णन का कहना है कि धर्म बाह्याडंबर नहीं है। वह आत्मिक जीवन एवं प्रज्ञा है। धर्म तत्त्व से अवगत हुए बिना अथवा अन्तर से सत्य को समझे बिना हम धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते हैं। अन्तरज्ञान सहजबोध एवं सम्बोधि है। सच्चे अर्थ में धार्मिक वही है जिसे सम्बोधि प्राप्त हो गई हो। धर्म स्वानुभूतिजन्य है। वह आध्यात्मिक विश्वास है। समस्त व्यक्तित्व का सम्यक् आत्मा के केन्द्रीय सत्य का अनुभव या उसके प्रति प्रतिक्रिया ही धार्मिक अनुभव है। इसे न तो आत्मगत कल्पना कह सकते हैं और न अन्तर का समर्थन ही। यह उसका बोध है जो कि मात्र व्यक्ति से परे है। जीवात्मा के एकान्त को वह विश्वात्मा मय कर देती है जिसे व्यक्ति अपना ही अनुभव करने लगता है। विश्वात्मा जीवात्मा में प्रकट होकर विश्व की सत्तात्मक एकता को चरितार्थ कर देती है। सहजबोधजन्य आस्था की तुलना किसी एक के विचार अथवा अनेकों द्वारा स्वीकृत मत से नहीं कर सकते हैं। दूसरे द्वारा अर्जित मत को चाहे वह सत्य ही हो स्वीकार-मात्र करना धर्म नहीं है। धर्म आत्मा की अन्तर्दृष्टि है वह शक्ति जिसके द्वारा आध्यात्मिक वस्तुओं तथा सत्य को आत्मा उतनी ही सहजता से समझ लेती है जितनी सहजता से नेत्रेन्द्रिय भौतिक वस्तुओं को देखती है। द्रष्टाओं की अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के बारे में विश्वास संशयहीनता और साधिकारिता की वैसी ही भावना होती है जैसी कि हमें अपने भौतिक प्रत्यक्ष के बारे में होती है साक्षात् कृत धर्माणः।

धार्मिक ज्ञान सहजबोध या सत्य अनुभूति है। सहजबोधजन्य ज्ञान ही प्रामाणिक, स्पष्ट, निर्भ्रान्त और श्रेष्ठ है। किन्तु कठिनाई तब प्रतीत

होती है जब धार्मिक अनुभूति के अन्तर्गत कोई विशिष्ट प्रकार की अनुभूति नहीं मिलती है। अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि धार्मिक अनुभव की व्याख्या प्रत्येक धर्म मे भिन्न प्रकार से की है। विश्व मे जितने धर्म हैं उतने ही प्रकार के अनुभव भी हैं। फिर प्रत्येक धर्म के अनेक अनुयायी है और प्रत्येक अनुयायी का अनुभव उसकी विशिष्ट उपधा है। उसके मानसिक व्यक्तित्व ऐतिहासिक राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति तथा शिक्षा संस्कार और भाषा के अनुरूप उसका धार्मिक अनुभव है। अनुभूतियों का वैभिन्य अथवा रहस्यमयी अन्तर्दृष्टियों का भेद क्या हमे शंकालु बना देता है? क्या धार्मिक अनुभूति की सत्यता संदिग्ध है? राधाकृष्णन के अनुसार अनुभव के स्वरूप और उसकी व्याख्या के बारे में चाहे हम कितना ही विवाद कर लें पर उसकी सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। यह है यह एक अकाट्य सत्य है। जो लोग धार्मिक अनुभवों को उनकी भिन्नता के कारण असत्य घोषित करते हैं वे इस सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य से अनभिज्ञ हैं कि अनुभव कैसा भी हो उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति से है। धार्मिक सत्य जिस व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है उसमें उसकी अमिट छाप रहती है। व्यक्ति का मानसिक शारीरिक सांस्कृतिक कलात्मक विकास वह पृष्ठभूमि है जिसकी पीठिका मे अनुभव को समझना होता है। प्रत्येक धार्मिक प्रतिभा शाश्वत रहस्य को अपनी योग्यताओं और विशिष्टताओं मे गुम्फित कर व्यक्त करती है। धार्मिक अभिव्यक्ति में वातावरण भाषा और प्रतीकों का अन्तर स्पष्ट है। धार्मिक अनुभव सत्य का विशुद्ध यथातथ्य प्रस्तुतीकरण नहीं है। वह अनुभव करने वाले मानस के विचारों और पूर्वग्रहों से प्रभावित होने के कारण उसकी प्रकृति का प्रतिबिंब भी है। यही कारण है कि जो अष्ठ रचनाकृतियाँ या धार्मिक अनुभव कभी समान नहीं हो सकते। महान् सहृदयों मे सर्वत्र व्यक्तित्व की छाप रहती है। दिव्य अपने आपको व्यक्तियों के मूल पूर्वग्रहों और स्वभावजन्य विशिष्टताओं के विधान के भीतर से व्यक्त

करता है। परम जब भक्त के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसके भावनानुरूप साकार हो जाता है। भक्त उसका मानवीकरण कर देता है। उसमें निजत्व और व्यक्तित्व आरोपित कर उसे ज्ञान सकल्प और राग से युक्त कर देता है। हिन्दू धर्म परम सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से उत्तम पुरुष एवं परम पुरुष मानता है। वह परम आत्मा महान प्रेमी और पूर्ण संकल्प है। विश्व का सृजनकर्ता सरक्षक सहारक एवं ब्रह्मा विष्णु और महेश है। वह गोपियों का हृदयेश्वर है। किन्तु इसी सत्य के दार्शनिक स्वरूप का निरूपण करते हुए हिन्दू धर्म बार-बार कहता है कि उसके प्रतिमान वीय स्वरूप को विस्मृत नही किया जा सकता है। केन्द्रीय सत्य निर्गुण तथा निराकार है। व्यक्ति के सम्बन्ध में वही पुरुषोत्तम है। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है एक सद् विप्रा बहुधा वदति। जब यह समझ में आ जाता है कि धार्मिक अनुभव भक्त की मनःस्थिति को भी प्रतिबिम्बित करता है एवं सत्य मानवीकरण द्वारा प्रकट होता है तब ईश्वर के स्वरूपों की विभिन्नता सरलता से बोधगम्य हो जाती है। ईश्वर का विष्णु, शिव राम कृष्ण आदि बनना उसकी वास्तविकता अथवा आत्मगत अस्तित्व का द्योतक नही है। ये विरोधी धारणाएँ मात्र यह बतलाती है कि परम चैतन्य भक्तों की भावनाओं के अनुरूप विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होता है। भक्त की भावना उसे नैतिकता का सरक्षक न्यायाधीश पालक पिता तथा प्रेमी आदि किसी प्रकार से देख सकती है। प्रत्येक अपनी चित्तवृत्ति के माध्यम से ही उसके दर्शन करता है। धार्मिक अनुभूति का सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों के विभिन्न अनुभवों से है। वह विश्वतो-मुखम् है। उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। उसे अनेक अर्थ प्रदान किए गए हैं। प्रत्येक अनुभव और अर्थ अपने क्षेत्र विशेष में सत्य है। किसी के भी सहजबोध अथवा अनुभव की अवहेलना करना अनुचित है। वेद पुराण और महाकाव्य सभी इस अर्थ मे प्रामाणिक हैं कि वे महान् व्यक्तियों के अनुभवों और विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं। अतः सर्वापवादाबाध्या। यह कहना कि हिन्दुत्व म को भगवान् की विभिन्न

होती है जब धार्मिक अनुभूति के अन्तर्गत कोई विशिष्ट प्रकार की अनुभूति नहीं मिलती है। अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि धार्मिक अनुभव की व्याख्या प्रत्येक धर्म मे भिन्न प्रकार से की है। विश्व में जितने धर्म हैं उतने ही प्रकार के अनुभव भी हैं। फिर प्रत्येक धर्म के अनेक अनुयायी है और प्रत्येक अनुयायी का अनुभव उसकी विशिष्ट अपना है। उसके मानसिक व्यक्तित्व ऐतिहासिक राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति तथा शिक्षा संस्कार और भाषा के अनुरूप उसका धार्मिक अनुभव है। अनुभूतियों का वैविध्य अथवा रहस्यमयी अन्तर्दृष्टियों का भेद क्या हमे शंकालु बना देता है? क्या धार्मिक अनुभूति की सत्यता संदिग्ध है? राधाकृष्णन के अनुसार अनुभव के स्वरूप और उसकी व्याख्या के बारे में चाहे हम कितना ही विवाद कर लें पर उसकी सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। यह है यह एक अकाट्य तथ्य है। जो लोग धार्मिक अनुभवों को उनकी भिन्नता के कारण असत्य घोषित करते हैं वे इस सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि अनुभव कैसा भी हो उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति से है। धार्मिक सत्य जिस व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है उसमें उसकी अमिट छाप रहती है। व्यक्ति का मानसिक शारीरिक सांस्कृतिक कलात्मक विकास वह पृष्ठभूमि है जिसकी पीठिका में अनुभव को समझना होता है। प्रत्येक धार्मिक प्रतिमा शाश्वत रहस्य को अपनी योग्यताओं और विशिष्टताओं में गुम्फित कर व्यक्त करती है। धार्मिक अभिव्यक्ति में वातावरण भाषा और प्रतीकों का अन्तर स्पष्ट है। धार्मिक अनुभव सत्य का विशुद्ध यथातथ्य प्रस्तुतीकरण नहीं है। यह अनुभव करने वाले मानस के विचारों और पूर्वाग्रहों से प्रभावित होने के कारण उनकी प्रकृति का प्रतिबिंब भी है। यही कारण है कि दो अच्छी अनुकृतियाँ या धार्मिक अनुभव कभी समान नहीं हो सकते। महान् रहस्यवादियों में सदैव व्यक्तित्व की छाप रहती है। दिव्य उनमें आपको व्यक्तियों के मूल पूर्वाग्रहों और स्वभावजन्य विशिष्टताओं के विधान के भीतर से व्यक्त

करता है। परम जब भक्त के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसके भावनानुरूप साकार हो जाता है। भक्त उसका मानवीकरण कर देता है। उसमें निजत्व और व्यक्तित्व आरोपित कर उसे ज्ञान संकल्प और राग से युक्त कर देता है। हिन्दू धर्म परम सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से उत्तम पुरुष एवं परम पुरुष मानता है। वह परम ज्ञाता महान प्रेमी और पूर्ण सकल्प है। विश्व का सृजनकर्ता संरक्षक संहारक एवं ब्रह्मा विष्णु और महेश है। वह गोपियों का हृदयेश्वर है। किन्तु इसी सत्य के दार्शनिक स्वरूप का निरूपण करते हुए हिन्दू धर्म बार-बार कहता है कि उसके अविभाज्य सीम स्वरूप को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। केन्द्रीय सत्य निर्गुण तथा निराकार है। व्यक्ति के सम्बन्ध में वही पुरुषोत्तम है। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति। जब यह समझ में आ जाता है कि धार्मिक अनुभव भक्त की मनःस्थिति को भी प्रति बिंबित करता है एवं सत्य मानवीकरण द्वारा प्रकट होता है तब ईश्वर के स्वरूपों की विभिन्नता सरलता से बोधगम्य हो जाती है। ईश्वर का विष्णु शिव राम कृष्ण आदि वर्णन उसकी आत्मपरकता अथवा आत्म गत अस्तित्व का द्योतक नहीं है। ये विरोधी धारणाएँ मात्र यह बतलाती है कि परम चैतन्य भक्तों की भावनाओं के अनुरूप विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होता है। भक्त की भावना उसे नैतिकता का संरक्षक न्यायाधीश शासक पिता सखा प्रेमी आदि किसी प्रकार से देख सकती है। प्रत्येक अपनी चित्तवृत्ति के माध्यम से ही उसका दर्शन करता है। धार्मिक अनु भूति का सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों के विभिन्न अनुभवों से है। वह विश्वतो- मुखम् है। उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। उसे अनेक अर्थ प्रदान किए गए हैं। प्रत्येक अनुभव और धर्म अपने संदर्भ विशेष में सत्य है। किसी के भी सहजबोध अथवा अनुभव की अवहेलना करना अनुचित है। वेद पुराण और महा ग्रन्थ सभी इस अर्थ में प्रामाणिक हैं कि वे महान् व्यक्तियों के अनुभवों और विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। अत- सर्वोपयात्मात्मा। यह कहना कि हिन्दुत्व में भी भगवान् की विभिन्न

व्याख्याएँ मिलती हैं अथवा धार्मिकों के जो वैचित्र्यपूर्ण अनुभव हैं, वे उनके अपवादात्मक व्यक्तित्व अति भावुकता मानसिक रोगों अथवा स्वप्न मानस की उपज हैं, न कि वे भगवान् के वस्तुगत अस्तित्व के प्रमाण हैं, सत्य से बरबस आँख मूँद लेना है। धार्मिक अनुभूति प्रत्येक की स्वतंत्रता का आदर करती है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य का अनुभव कर अपने मानसिक व्यक्तित्व के माध्यम से सत्य को ग्रहण कर सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि प्रत्येक का अनुभव उसका निजी अनुभव है। अनुभव चाहे कैसा भी हो व्यक्तित्व के ही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। धार्मिक अनुभव को उन्होंने हास्यास्पद कहा है जिनमें इस अनुभव की क्षमता नहीं है। तर्क के अनुसार जो तथ्य सार्वजनीन नहीं है वह असत्य है। धार्मिक अनुभव आध्यात्मिक आचरण का विषय है। यदि कुछ का अन्तर इतना उन्नत नहीं है कि वे धार्मिक अनुभव प्राप्त कर सकें तो उनके आधार पर उस अनुभव को असत्य नहीं कहा जा सकता जो जीवंत स्पष्ट और स्वतःसिद्ध है तथा जो जीवन की गहनताओं का सूचक है। अपवाद के आधार पर किसी भी बात की असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती। अपवाद को प्रश्रय देने पर धार्मिक सहजबोध ही नहीं सभी प्रकार के वैज्ञानिक कलात्मक दार्शनिक सहजबोधों आदि को असत्य घोषित करना पड़ेगा। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद को समझने की दिशा में जितनों को क्षमता है, वह विचारणीय है। बहुतों के लिए गायन वर्तमान आलाप तथा अर्थहीन कोलाहल है और बहुतों के लिए सौन्दर्यबोध व्यक्तिगत दिखती भावुकता है। क्या इनसे यह परिणाम निकलता है कि संगीत बोध और नवीन आकाश कुसुमवत् है। धार्मिक अनुभव इसी अर्थ में असाधारण है जिस अर्थ में सभी प्रतिभा असाधारण है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि धार्मिक अनुभव परीक्षणीय नहीं है। यदि हम आवश्यक कष्ट उठाने को तत्पर हों एवं आध्यात्मिकता का प्रशिक्षण और विकास कर लें तो धार्मिक अनुभव का परीक्षण कर सकते हैं। धार्मिक क्षेत्र में सच्ची और झूठी अनुभूति के अन्तर को न केवल तर्क

द्वारा किन्तु जीवन और अनुभव द्वारा सिद्ध किया जा सकता है अथवा विभिन्न धार्मिक धारणाओं पर प्रयोग करके तथा उन्हें प्रेय जीवन से संबंधित करके हम सत्य अनुभूति को समझ सकते हैं। जो कोई भी चाहे वह परीक्षणीय प्रतिज्ञा अथवा शर्त को स्वीकार करने पर सत्य का पुनरनुभव कर सकता है। यद्यपि धार्मिक सत्य अनुभूतिजन्य है और वह सहजबोध की अपेक्षा रखता है न कि तार्किक बोध की तथापि हिन्दू ऋषि-मुनियों ने संशयालु मानस का समाधान करने के लिए यह आवश्यक समझा कि वे उसकी बौद्धिकता को स्थापित करें एवं अपनी महत्तम धारणा को इस भाँति ढालें कि सर्व-सुगम सर्व-स्वीकृत और सर्व-अनुमोदित हो सके।

धर्म-जिज्ञासुओं के लिए ऋषियों के अनुभव अर्थगर्भित हैं। वे उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं यद्यपि सत्य अंततः स्वानुभूति का ही विषय है। सत्य ज्ञान के लिए या सच्चा जीवन जीने के लिए अपने अंतर का विकास आवश्यक है। परम्परा का अन्धवत् पालन करके अथवा अंधविश्वास को पूजकर हम न आत्म-संरक्षण कर सकते हैं और न दूसरे का संरक्षण ही। ईसाई ईश्वर ज्ञान जिसने यौरोपवासियों को प्रभावित किया है मूक आज्ञा पालन को मानना है। किन्तु हिन्दुत्व जिस आस्था को अपनाता है वह अधिकारियों के आदर्श का मौन पालन नहीं है वह सच्चे अर्थ में आध्यात्मिकता से जीना है। वह सत्य का साक्षात्कार एवं सहजबोध है न कि अलौकिक नियमानुवर्तन। सत्य ज्ञान मात्र बुद्धि की धरोहर न होकर मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व या आत्मा की धरोहर है। आध्यात्मिक जीवन किसी कठिन वैचारिक समस्या की भाँति नहीं है जो धाराप्रवाहपूर्वक एकांत मन से सुलझाई जा सकती है। वह सत्य का अनुभव तथा भगवान् का साहचर्य प्राप्त करना है। वह ईश्वर की अनुभूति भगवान् को जानना तथा भगवानमय हो जाना है। आत्मा को सार्वभौम आत्मा के स्तर पर लाना ही आध्यात्मिक जीवन है। सत्य एवं धर्म की ऐसी व्याख्या करने वाला हिन्दुत्व वैदिक आदेशों को रूढ़िवादी अर्थ में चरम आदेश नहीं

रहता वह किसी स्थिर अडिग मत का प्रतिपादन नहीं करता है। वेदों में पूर्वऋषियों के सम्बन्धों का वर्णन मिलता है। दिव्य मनीषियों ने अपने तप द्वारा उस सत्य को प्राप्त किया है जो सर्वव्यापक और स्वतः सिद्ध है। वैदिक आदेश इसी अर्थ में वरणीय श्रेष्ठ और परम हैं कि उनमें निहित ज्ञान अत्यधिक प्रामाणिक है। यह ज्ञान सैद्धान्तिक तत्वों को उतना नहीं व्यक्त करता जितना कि वह स्वयं जीवन का प्रतिबिम्ब है। वेदों में उन ऋषियों की अंतर्दृष्टि का वर्णन है जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन आत्मसात् कर सार्वभौम चैतन्य का अनुभव किया है। वेद उन आत्माओं के आध्यात्मिक अनुभवों की साक्षी देते हैं जो वास्तविकता के बोध से संपन्न हैं। हिन्दुत्व में यौगिक प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है और वेदों को इसी अर्थ में प्रामाणिकता और मान्यता प्रदान की है कि वे धर्म के विशेषज्ञों और अधिकारियों के दुर्लभ अनुभवों को साकार करते हैं। ऋषियों ने सत्य को तार्किक विवेचन या व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्राप्त नहीं किया है। यह समस्त आत्मा की अनुभूति तथा तप का परिणाम है। वैदिक आदेश इसी अर्थ में ऋषि-मुनियों के सिद्ध दर्शन के प्रतीक हैं न कि किसी विशिष्ट व्यक्ति के विशेष आदेश के प्रतीक जिन्हें सम्यक आत्मा का सत्य होने के कारण अलौकिक नहीं कहा जा सकता। ये विश्लेषणीय और परीक्षणीय हैं किन्तु इनका परीक्षण वही कर सकता है जिसमें योग्यता और क्षमता है अथवा जो इसका अधिकारी है।

अपरोक्ष ज्ञानियों की प्रतिभा को मानसिक प्रलाप कहकर त्याज्य और असत्य नहीं कहा जा सकता। महान् योगियों ने अपनी अद्वितीय बौद्धिक क्षमता, सूक्ष्म विवेक तथा व्यावहारिक योग्यता द्वारा सिद्ध कर दिया है कि वे उन्मादग्रस्त नहीं थे। सभी देशों और युगों के तत्त्वज्ञानियों ने भगवान् या परम सत्ता के सम्यग्विज्ञान ज्ञान का अभिप्रमाणीकरण किया है। निश्चय ही परम सत्य का अनुमानित ज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह सर्वोच्च सत्य है जो न तर्कजन्य है न संवेदनजन्य ही। वह आत्मा की महत्ता से जाना जाता है। उसकी प्रामाणिकता आत्मा के

अपने प्रति विश्वास द्वारा निर्धारित है। उसमें निश्चयात्मकता की वह आंतरिकता रहती है जो जीवन की एक विशिष्ट पद्धति के द्वारा ही प्रेषणीय है। सत्य को कोई भी बिना इस आत्म-प्रयास के नहीं पा सकता है। जितने भी बौद्धिक प्रयास भगवान् को सिद्ध करने के लिए किए गए हैं वे तार्किक ज्ञान की भूलभुलैया में घूमकर अंत में आत्म अनुभूति की शरण लेते हैं। भगवान् के अस्तित्व को तार्किक रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। तार्किक ज्ञान प्रतिभासित जगत् तथा देश-काल कारण के विश्व तक सीमित है। यद्यपि परम ज्ञान अनुमानित ज्ञान का अतिक्रमण करता है तथापि वह स्वयं अत्यधिक सत्य है। उसकी अगम्यता सिद्ध करती है कि उसे न तो काल्पनिक आरोपण कह सकते हैं और न बौद्धिक आवेग ही। यह जीवन की वह अगम्य बाती है जो जीवन को अर्थ और लक्ष्य प्रदान करती है। दिव्यता आध्यात्मिक जीवन में संस्थापित होती है न कि तर्कयुक्ति द्वारा और यही उसकी अवर्णनीयता का रहस्य है। उसकी अवर्णनीयता उसके विश्वसनीय होने का प्रमाण नहीं है और न अनुभवों की भिन्नता के आधार पर उसके स्वरूप के भिन्न वर्णन ही उसकी असत्यता को सिद्ध करते हैं। समस्त विश्व के दिव्य अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न सिद्धों में अन्य मतभेद होते हुए भी यह सर्वैक्य है कि धार्मिक अनुभव मूलतः दिव्य के साथ साक्षात्कार है। वह परमात्मा का अनुभव एवं वह अपरोक्ष ज्ञान है जो वाणी से परे है किन्तु वाणी जिसके आश्रित है।

राधाकृष्णन् का कहना है कि धार्मिक बोध एवं सहजबोध पर अविश्वास करना उस संदेहवाद को जन्म देना है जो गंभीर निराशा उद्देश्यहीनता निष्क्रियता का परिचायक है। वैज्ञानिक मानस ने सहज बोध के शाश्वत सत्यों पर संदेह कर जीवन को निष्प्राण छिछला और मरणोन्मुख बना दिया है। यह शाश्वत सत्य अपना प्रमाण स्वयं है। इसका विरोधी अकल्पनीय है। बौद्धिक रहते हुए हम ऐसे सत्य पर अविश्वास नहीं कर सकते यह आत्मा का अपना सबसे गहन सत्य है। सहजबोध का सत्य न वेदनाओं से प्राप्त या तर्कवाक्य द्वारा अनुमानित

तथ्य नहीं है। क्योंकि सत्य वह तत्व है जिसके बिना किसी प्रकार का संवेदन प्रत्यक्ष अनुभव या विचार संभव नहीं है। वह आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान का निराकरण सभी ज्ञान और जीवन का निराकरण है। हम समस्त ज्ञान को बाह्य मापदण्ड पर आधारित नहीं कर सकते। मात्र बाह्य मापदण्ड को मानने पर हम अनवस्था के दोष से युक्त हो जायेंगे। एक का मापदण्ड दूसरा और दूसरे का तीसरा—इस भांति यह क्रम उस अनन्त तक चला जायेगा जिसका कोई अन्त नहीं। अनवस्था का दोष आन्तरिक मापदण्ड की अनिवार्यता स्थापित करता है। आत्मज्ञान आत्म प्रमाणित ज्ञान है। यह पूर्ण और निरपेक्ष है। इसमें मानस सहज भाव से सत्य की ओर मुड़ता है। तार्किक ज्ञान सत्य-असत्य का मिश्रण है क्योंकि इसमें मानस व्यावहारिक उद्देश्यों से आच्छादित हो जाता है। अतः सत्य की प्राप्ति के लिए मानस को पहिले शुद्ध कर इच्छाओं चिन्ताओं स्वार्थों और रुचियों से मुक्त करना होता है। मानस अपनी विशुद्धावस्था में ज्ञाता-ज्ञेय सत्य और भ्रान्ति के उस भेद से ऊपर उठ जाता है जो सामान्य ज्ञान की आवश्यकता है। यह जो चिन्तनावस्था या तार्किक ज्ञान के परे है उसका तार्किक बोध सम्भव नहीं है। समस्त जीवन की परम धारणा हमारे अन्तर की चेतना है। मनुष्य के भीतर दिव्यत्व है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण स्वयं जीवन है। यदि हमारे भीतर यह अगम्य विश्वास न हो कि हम दिव्य हैं तो हम जी नहीं सकते। दिव्यता की धारणा हमें बताती है कि हम अकेले नहीं हैं। दिव्यत्व मनुष्यत्व है। यही मानव जीवन का सत्य उसकी स्वाभाविक गति और प्रकृति आशा और उत्साह है।

इस बोध और भाव को प्राप्त करना या समझना प्रत्येक के लिए सरल नहीं है। यह अधिकार है। वही इस पर चल सकता है जो तत्पूत है, जिसमें इसे समझने की क्षमता है। सत्य को जानने की आस्थायुक्त तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिए। यदि मात्र कुतर्क या कुतूहल के लिए श्रुति या सिद्ध दर्शन का अध्ययन कर अथवा पढ़े हुए महात्माओं के प्रवचन

मूँदें तो मानस सत्य से कभी भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा। उन्मुक्त हृदय और मन से ही सत्य ज्ञात हो सकता है। सत्य को समझने के लिए सहजबोध का प्रशिक्षण और विकास आवश्यक है। चेतना संबंधी तथ्यों को समझने की विशिष्ट योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् ही धार्मिक अनुभवों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है। बिना सत्य का मनन और उसका अनुभव किए उसकी कटु आलोचना करना अपने ही अविवेक-अहंकार को व्यक्त करना है। जिस भाँति शास्त्रीय संगीत या अष्ट कला का मूल्यांकन विशिष्ट योग्यतावाला व्यक्ति ही कर सकता है उसी भाँति अधिकारी व्यक्ति ही परम सत्य की अनुभूति की सच्चाई या झुठाई का विवेचन कर सकता है। हिन्दुत्व धार्मिक कहे जाने वाले सभी अनुभवों को प्रमाणित या स्वीकृत नहीं मानता है किन्तु वह साथ ही यह भी साधिकार कहता है कि परम सत्य के बारे में धार्मिक अनुभव के प्रमाण सिद्ध प्रमाण या आप्त-प्रत्यक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच्ची धार्मिक श्रद्धा अंध अलौकिक आस्था नहीं है। यह वह आस्थाजन्य विवेक है जिसका वैज्ञानिक नैयायिक भौतिकशास्त्र में प्रयोग करता है। सार्वभौम नियमों और परम सत्य को समझने के लिए एकमात्र मार्ग सहजबोध का ही है न कि तर्क का। अनुभवों के तदनुरूप-परिपूर्ण बोध पर आधारित सहजबोध ही सार्वभौम सत्यों की परम सरणी है। हिन्दुत्व के शंकर इस बात को दुहराता है कि परम सत्य अरूप है उसे तार्किक बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है। उसने कभी भी उस एक परम सार्वभौम चेतना की स्थापना पर संदेह नहीं किया जिसके स्वभाव के बारे में प्रश्न करने पर औपनिषदिक अन्वेषी मौन हो गए हैं। अधिक पूछने पर उन्होंने कहा—शान्तोऽयम् आत्मा। परम सत्य के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। वह वाणी और मनन की पकड़ के परे है। माण्डूक्य का नेति नेति उस गंभीर मौन को इंगित करता है जहाँ वाक् अपने को खो देते हैं एवं उसका विचार निस्तब्धता में विलीन हो जाता है। मनुष्य का मानस इस परम मौन या अवर्णनीयता को स्वीकार करने में कठिनाई

तथ्य नहीं है। क्योंकि सत्य वह सत्व है जिसके बिना किसी प्रकार का एकीकृत प्रत्यक्ष अनुभव या विचार संभव नहीं है। वह आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान का निराकरण सभी ज्ञान और जीवन का निराकरण है। हम समस्त ज्ञान को बाह्य मापदण्ड पर आधारित नहीं कर सकते। मात्र बाह्य मापदण्ड को मानने पर हम अनवस्था के दोष से युक्त हो जायेंगे। एक का मापदण्ड दूसरा और दूसरे का तीसरा—इस भांति यह क्रम उस अनन्त तक चला जायेगा जिसका कोई अन्त नहीं। अनवस्था का दोष आन्तरिक मापदण्ड की अनिवार्यता स्थापित करता है। आत्मज्ञान आत्म प्रमाणित ज्ञान है। यह पूर्ण और निरपेक्ष है। इसमें मानस सहज भाव से सत्य की ओर झुकता है। तार्किक ज्ञान सत्य-असत्य का मिश्रण है क्योंकि उसमें मानस व्यावहारिक प्रश्नों से आच्छादित हो जाता है। अतः सत्य की प्राप्ति के लिए मानस को पहिले शुद्ध कर इच्छाओं जिज्ञासाओं स्वार्थों और रुचियों से मुक्त करना होता है। मानस अपनी विशुद्धावस्था में ज्ञाता-ज्ञेय सत्य और भ्रान्ति के इस भेद से ऊपर उठ जाता है जो सामान्य ज्ञान की आवश्यकता है। यह जो चित्तावस्था या तार्किक ज्ञान के परे है उसका तार्किक बोध सम्भव नहीं है। समस्त जीवन की परम धारणा हमारे अन्दर की चेतना है। मनुष्य के भीतर दिव्यत्व है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण स्वयं जीवन है। यदि हमारे भीतर यह अनन्य विश्वास न हो कि हम दिव्य हैं तो हम जी नहीं सकते। दिव्यता की धारणा हमें बताती है कि हम अकेले नहीं हैं। दिव्यत्व मनुष्यत्व है। यही मानव जीवन का मर्म उसकी स्वाभाविक गति और प्रकृति आशा और उल्लास है।

इस सत्य और सत्य को प्राप्त करना या समझना प्रत्येक के लिए सरल नहीं है। यह अधिकार है। वही इस पर चल सकता है जो तत्पर है जिसमें इसे समझने की क्षमता है। सत्य को जानने की आत्मानुभूत तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिए। यदि आप पुनर्जन्म या पुनर्देह के लिए श्रुति या सिद्ध दर्शन का अध्ययन कर अथवा पहुँचे हुए महात्माओं के प्रवचन

गुणों से मानस सत्य से कभी भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा । उन्मुक्त हृदय और मन से ही सत्य ज्ञान हो सकता है । सत्य को समझने के लिए सहजबोध का अभिसरण और विकास आवश्यक है । चेतना संबंधी तथ्यों को समझने की विशिष्ट योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् ही धार्मिक अनुभवों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है । बिना सत्य का मनन और उसका अनुभव किए उसकी कटु आलोचना करना अपने ही अविवेकान्धकार को व्यक्त करना है । जिस भाँति शास्त्रीय संगीत या श्रेष्ठ कला का मूल्यांकन विशिष्ट योग्यतावाला व्यक्ति ही कर सकता है उसी भाँति अधिकारी व्यक्ति ही परम सत्य की अनुभूति की सच्चाई या झुठाई का विवेचन कर सकता है । हिन्दुत्व धार्मिक कहे जाने वाले सभी अनुभवों को प्रमाणित या स्वीकृत नहीं मानता है किन्तु वह साथ ही यह भी साधिकार कहता है कि परम सत्य के बारे में धार्मिक अनुभव के प्रमाण सिद्ध प्रमाण या योग प्रत्यक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती । सच्ची धार्मिक अन्तर्दृष्टि अलौकिक धारणा नहीं है । यह वह आत्मगम्य विवेक है जिसका वैज्ञानिक सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्र में प्रयोग करता है । सार्वभौम नियमों और परम सत्य को समझने के लिए एकमात्र मार्ग सहजबोध का ही है न कि तर्क का । अनुभवों के सहानुभूतिपूर्ण बोध पर आधारित सहजबोध ही सार्वभौम सत्यों को ग्रहण करता है । हिन्दुत्व ने सदैव इस बात को दुहराया है कि परम सत्य अनन्त है उसे सान्त बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है । उसने कभी भी उस एक परम सार्वभौम चेतना की सत्यता पर संदेह नहीं किया जिसके स्वभाव के बारे में प्रश्न करने पर औपनिषदिक ऋषिगण मौन हो गए हैं । अधिक पूछने पर उन्होंने कहा—'शान्तोऽयम् आत्मा' । परम सत्य के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है । वह वाणी और मन की पकड़ के परे है । उपनिषद् का नेति नेति उस गंभीर मौन को इंगित करता है जहाँ मन रुकने को आ देते हैं एवं उनका निश्चल निस्तब्धता में विलय जाता है । मनुष्य का मानस इस परम मौन या अव्यक्तता को स्वीकार करने में कठिनाई

पाता है। पर यह सच है कि धार्मिक अनुभूति को भाषा व्यक्त नहीं कर सकती है। परम का भावात्मक स्वरूप निर्धारित करना असंभव है। वह पूर्णतः अनुभवातीत तथा अनुभावात्मक विचारों से परे है। वह वह मूल चेतना है जिसका तार्किक ज्ञान द्वारा बोध संभव नहीं है तथा जो विशुद्ध मौलिकता है जिसकी प्रत्ययात्मक व्याख्या हो ही नहीं सकती है। वह अविभाज्य एकता है जो आत्मा से अभिन्न है। परम वह वास्तविकता है जिसमें सत् और चित् एक ही है। परम के अपरोक्ष आध्यात्मिक बोध में ज्ञान और अस्तित्व का भेद मिट जाता है। इसकी प्राप्ति आध्यात्मिक जीवन में होती है न कि तर्क-युक्ति द्वारा। यह, वह अनुभव है जो अद्वितीय आत्म-शासित और अवर्णनीय है। जहाँ एक ही है वहाँ वाणी अवरुद्ध हो जाती है। वाणी है नमामयम। सत्य मौन है। हम ठीक ठीक यह भी नहीं कह सकते कि वह एक है। बुद्धि उस एकत्व की व्याख्या करने के प्रयास में उसे विशिष्ट और सीमित वस्तुओं का परिधान पहना देती है और स्वयं विरोधों असंगतियों तथा कठिनाइयों के जाल में फँस जाती है। परम को सांसारिक वस्तुओं की भाँति नहीं समझा जा सकता। वह जगत की अन्य वस्तुओं की भाँति कोई विषय नहीं है। परम वह चेतना है जो कि अनुभवात्मक ज्ञान के विषय और विषयी से भिन्न है। इस चेतना के स्वरूप को न निर्धारित ही कर सकते हैं और न सिद्ध ही कर सकते हैं। वह स्वतः प्रकाश और स्वतः सिद्ध है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जितने भी प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं वे असफल रहे हैं। अस्तित्व को प्रमाणित करने के क्रम में विचारकों ने इसे विषय में परिणत कर दिया। परम या चेतना जीवन एवं समस्त जीवन है वह कोई वस्तु नहीं है। वह अपने आप में और अपने ही द्वारा सत्य है। यद्यपि परम के स्वरूप को निर्धारित नहीं किया जा सकता है तथापि उसके बारे में जब चिंतन जाग्रत् होता है तब कल्पना उसे आकार दे देती है। निर्गुण सगुण हो जाता है। परम पुरुष के रूप में सत्यं शिवं एवं सौन्दर्य को मूर्तिमान कर देता है।

सद्बोध सत्य साक्षात्कार है । अतः दर्शन बुद्धि की रचना नहीं यह सम्यग्दृष्टि की अभिव्यक्ति है । दर्शन को मात्र द्वन्द्वात्मक विकास और तार्किक पद्धति नहीं कह सकते हैं । यह अवस्था का वर्णन है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए तर्क और भाषा की आवश्यकता है । हमें यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि अनुभव का बुद्धीकरण या तर्कीकरण समस्त सत्य नहीं है । दर्शन के महान् सत्य सिद्ध नहीं किए जा सकते वे देखे या अनुभव किए जा सकते हैं । अनुभव गूंगे का गुड़ है जिसे स्वतः गूंगा ही जानता है । अनुभव अकथनीय अवर्णनीय और अनिर्वचनीय है । सत्ता मात्र तार्किक प्रत्यय या धारणा नहीं है । अनुमान और तर्क उसका सम्यक ज्ञान नहीं दे सकते हैं । यह आध्यात्मिक जीवंत सत् तथा सम्बोधि या अपरोक्षानुभूति का विषय है । शंकराचार्य ने श्रुति को इसी अर्थ में प्रमाण कहा है कि उसमें सिद्धों के सम्पूर्ण अनुभवों का समावेश निहित है । श्रुति स्वतः सिद्ध है क्योंकि जिन अनुभवों का यह अभिलेखन रखती है वह स्वतः प्रमाणित है । किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि श्रुति या सिद्ध अनुभव अन्य सभी प्रकार से अगम्य है । वे बोधगम्य हैं । उनकी सत्यता को बुद्धि अनुमान कार्य-कारणसम्बन्धभाव उपमा और प्रतीकों द्वारा समझा जा सकता है । पर ऐसे प्रमाण और स्पष्टीकरण सदैव अधूरे ही रहते । क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति पूर्ण अनुभूति एवं सत्य के साथ सम्पर्क है । वह आत्मा के साथ तादात्म्य की अनुभूति है । सत्यानुभव में सब-कुछ वास्तविक अनुभव होता है । ज्ञाता ज्ञान की पद्धति और ज्ञेय के बीच पूर्ण अभेद हो जाता है । ज्ञाता और ज्ञान का जो भेद अनुभवात्मक ज्ञान के लिए आवश्यक है वह चरम अनुभव में मिट जाता है । परम कोई बौद्धिक विचार नहीं है यह जीवंत वास्तविकता है । परम अनुभव अनन्य अकथनीय और अवर्णनीय है । यह आत्मबोध है । उसमें नित्य स्वप्रकाशता की भावना निहित है । अकेली आत्मा ही उसकी साक्षी है । यह मनुष्य के इस बोध की प्राप्ति पर आधारित है कि उसकी आत्मा दुख से मुक्त विशुद्ध चेतना है । दुख सत्ता से विमुख होने का परिणाम है और जब यह भाव दूर हो जाता है दुख समाप्त हो जाता है।

अध्याय १

व्यक्ति, उसका कर्त्तव्य और लक्ष्य

मनुष्य का अस्तित्व क्षर-अक्षर का सम्मिलन है। उसकी वास्तविकता द्विपक्षीय है — बाह्य और आंतरिक। अपने बाह्य एवं प्रतिभासित रूप में वह देह, प्राण, मन और इंद्रिय है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर का योग है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान का समूह है। वह भोक्ता और कर्त्ता है। अपने को अंतःकरण और इन्द्रियों से युक्त मान कर वह क्षणभंगुर विषयों के लिए लालायित होकर सुख और दुःख अनुभव करता है। शरीर और अन्तःकरण में एकता का भाव उसमें अहंकार उपजाता है — मैं और मेरा निजत्व और ममत्व का आधार बन जाता है। किन्तु मनुष्य जैसा दीखता है वैसा है नहीं। उसके अन्दर में शाश्वत चैतन्य है जो उसके स्थूल और सूक्ष्म शरीर का सूत्रा है। वह सूत्रा जीव की सभी स्थितियों — जाग्रत् स्वप्न, निद्रा, मरण, पुनर्जन्म आदि में — सतत वर्तमान है। शरीर के नष्ट होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। वह अशरीरी है। सांसारिक आत्मा देहात्मप्रतिबिम्ब शरीरी और मरणशील है। इस आत्मा की विभिन्न स्थितियों का मूलाधार सार्वभौम चैतन्य एवं आत्मन् है। आत्मन् शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। न उसका जन्म होता है न मृत्यु, न वह बंधन में पड़ता है और न मुक्ति ही प्राप्त करता है। इस अर्थ में वह नित्य मुक्त है। जरा-मरण पाप-पुण्य से अछूता यह आत्मा पक्ष-रहित वासनारहित, [illegible] स्पृहाहीन, [illegible] और आत्मनिर्भर है।

प्रकृति की सभी विकृतियों में मनुष्य की विशिष्टता भिन्न दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य में प्रकृति अपने को सचेत रूप से अभिव्यक्त करती

है। यदि निम्न योनियों में वह अपने को अतिक्रम अपने आप या अचेतन क्रिया द्वारा करती है तो मनुष्य म मानसिक और आध्यात्मिक प्रयास द्वारा करती है। यही वनस्पति और पशुजगत् तथा मनुष्य मे प्रमुख अंतर है। जनमत जब मनुष्य बंदर है, पूँछहीन बन्दर है, सुन कर अपनी हँसी नहीं रोक पाता है तो उसकी हँसी निरर्थक नहीं होती उसका अर्थ है और स्पष्ट अर्थ है कि मनुष्य चाहे कितना ही पुरातन और असभ्य हो उसमें और पशु म स्पष्ट भेद है। यह भेद बुद्धि का है। मनुष्यत्व बौद्धिक श्रेष्ठता का सूचक है। वह बुद्धिजीवी एवं चिंतनशील है। उसमें आविष्कार और सृजन की शक्ति है। आदिमकाल से ही उसकी सृजन शक्ति उसकी सहायक रही है। उसने उपयोगी यंत्र और औजार बनाए हैं। इसे मात्र दैहिक शक्ति नहीं कह सकते न निम्न सहज प्रवृत्तियों की जटिलता ही मान सकते हैं। मनुष्य का सृजनशील मानस उसके आत्म चेतन विवेक को व्यक्त करता है। वह एक चिंतनशील आध्यात्मिक प्राणी है। उस उच्च ध्येयों तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए अपनी प्रकृति को सँवारना पड़ता है। मनुष्य की जो सामान्य व्यक्त स्थिति है वह उसकी परम वास्तविकता नहीं है। उसके अंदर महान सत्य है, जिसे चाहे किसी नाम से पुकारें, प्राण पुरुष आत्मा या चेतना वह नित्य अपरिमित और स्वप्रकाश है। प्रत्येक प्राणी मे इस शाश्वत प्रकाश का आवास है, जिसे बाहर की कोई भी शक्ति नहीं मिटा सकती। वह अजर अमर तथा स्वयंभू है मनुष्य हृदय का मूक साक्षी है। अज्ञानी मानव इस साक्षी को भूल कर तुच्छ सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता है। उसमें रमता और भटकता है। अपने आन्तरिक सत्य से अनभिज्ञ मानव अज्ञानी है। अज्ञान उसमें उस द्वैत को जन्मा देता है जिसके कारण वह एक क्षण चैन की साँस नहीं ले पाता है। वह भटकता रोता और कलपता है। वह नहीं जानता वह क्या चाहता है। अतृप्ति की व्याकुलता उसे व्यथित कर देती है। उसका सांसारिक देह बोधयुक्त जीवन और उसका वास्तविक सत्य—जो वह है और होना चाहता है—संघर्षरत हो जाते हैं।

वह दुःखी और असंतुलित हो जाता है क्योंकि वह अपने जीवन को उस सत्य से निर्देशित नहीं कर पाता जो सचमुच में ही उसका है। भौतिक सत्ता और आध्यात्मिक सत्ता में जब तक एक रूपता स्थापित नहीं हो जाती मानव दुःखी और असमत ही रहेगा। उसका वैयक्तिक सामाजिक राजनीतिक साहित्यिक कलात्मक व्यक्तित्व एवं समस्त जीवन अस्त व्यस्त ही रहेगा—समुद्र का तरंगित बरसाती नाले-सा गंदा और तलैया के जल-सा छिछला।

यदि विकृत जीवन को देखें तो उसमें विकासक्रम मिलेगा जिसमें पशु चातुर्य मानवीय दूरदर्शिता में और मानव दूरदर्शिता आत्मचेतना में पहुँच गयी है। अब मानव आत्म चेतना को एक व्यापक दृष्टि में विकसित होता है उस ज्योतिर्मय चेतना को प्राप्त करता है। जब पशु जगत् से मानव जगत् में प्रवेश करते हैं तब उसमें क्रमिक विकास न मिल कर एक आकस्मिक अन्तराय एवं एक नए प्रकार के अनुभव में उत्ता-सन मिलता है। मनुष्य प्रकृति का दास नहीं स्वामी है। वह उस पर शासन कर सकता है। उसका स्वामित्व उसकी शारीरिक शक्ति, शिम शक्ति या तीव्र सहज प्रवृत्तियों के कारण नहीं है वरन् उस विवेक के कारण है जो आगे पीछे की सोच सकता है और जिसके कारण वह भूत भविष्य और वर्तमान के प्रति सजग रह कर अपनी सहज प्रवृत्तियों पर अंकुश रख सकता है। मनुष्य की बुद्धि ने ही उसे उस ज्ञान को दिया है जो उसे परिवर्तनशील परिस्थितियों से संयोजित होने की योग्यता देता है। ज्ञान मनुष्य की विशिष्ट सम्पदा है। वह ज्ञानी जो अग्नि के सम्भावित गुण को जानते हुए उसमें प्रवेश करता है उस अज्ञानी से भिन्न है जो अग्नि के इस गुण से अनभिज्ञ है। मानव चेतना की विशिष्टता ज्ञान है। ज्ञान अपूर्ण है। यही कारण है कि यद्यपि हम ज्ञान के उपादानों का विश्लेषण कर सकते हैं किन्तु ज्ञान क्यों है यह नहीं बता सकता है।

वनस्पति और पशु जगत् तथा मानव जगत् में स्पष्ट अन्तर और

सित होता है किन्तु यह अन्तर एकतारहित नहीं है। वह विश्व प्रकृति का अंग है। प्रकृति की अविच्छिन्नता से ही उसकी सम्पूर्णता निर्मित होती है। विश्व प्रकृति के संदर्भ में मनुष्य की कोई बिलकुल भिन्न सत्ता नहीं है। शारीरिक प्राणिक और पशु जीवन से ऊपर उठ कर ही वह मनुष्य बन सका है। किन्तु वह मात्र पशु का विकसित या सर्व रूप नहीं है। दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर की खाई है। किसी भी प्रकार का वैज्ञानिक निरीक्षण इस आश्चर्यजनक रूपान्तर को समझने में सहायक नहीं हो सकता है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों की असफलता का यही कारण है कि वे मनुष्य के व्यवहार का प्राकृतिक विज्ञान की घटनाओं की भाँति निरीक्षण और व्याख्या करते हैं। मनोविज्ञान को एक विज्ञान के नाते प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक निरीक्षण तक अपने को सीमित रखना चाहिए। उसे जीवन की गहराइयों में पैठने का दावा नहीं करना चाहिए। फिर वैयक्तिक अनुभवों मूल्यों और ध्येयों से मनोविज्ञान का सीधा सम्बन्ध है भी नहीं।

मनुष्य धारतः चेतना है। चेतना द्रष्टा है, दृश्य नहीं है। वह मनोवैज्ञानिक अन्वेषण और विश्लेषण का विषय न होकर अनुभव का विषय है। मानव आत्मा की अभिलाषा—प्रेम इच्छा और आतुरता—चिन्तन अन्वेषण और सृजन उसमें सर्वोच्च आत्मा के वास के सूचक हैं। विश्व के सभी महान् विचारकों में मतैक्य है कि इस आत्मा को जानना मनुष्य का धर्म है। मानव जीवन का अर्थ सत्ता की स्थिति या अभिज्ञता है जिसको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। जो अपनी अन्तःप्रकृति को जानता है वह स्वर्ग में रहता है। मुक्ति मनुष्य की वास्तविक स्थिति की प्राप्ति है आत्मप्राप्ति सत्यम् मोक्षम्— आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति है। अतः कहा गया है— आत्मा को जानो—आत्मानम् विद्धि। किन्तु आत्मा क्या है? विविध कोशों से आविष्ट आत्मा सामान्य मानव को उन्हीं कोशों के रूप में अपना परिचय देती है आत्मा अन्नमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय है। वह स्थूल शरीर इंद्रिय और विचार का प्रवाह है। आत्मा को इन

रूपों में देखने वाले भूल जाते हैं कि ये आत्मा की उपाधियाँ एवं बाहरी आवरण हैं जो परिवर्तनशील और मृण्मय हैं। आत्मा को शरीर, इन्द्रिय या बुद्धि नहीं माना जा सकता। न उसे विज्ञान का प्रवाह या पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का संघात एवं पंचस्कंध के रूप में ही समझा जा सकता है। विचार उत्पन्न होते हैं और विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। वे आदि और अन्त युक्त हैं। वह जो क्षर है उसे वास्तविक आत्मा नहीं कह सकते। आत्मा वह है जो इन सभी में वर्तमान होते हुए भी अक्षर है। आत्मा को न दैनंदिन की घटनाएँ ही प्रभावित करती हैं और न वह कर्म ही करती है। व्यक्ति के जीवन की असंख्य घटनाएँ और विभिन्न अवस्थाओं के बीच आत्मा तादात्म्य के बोध का स्रोत है। इसी कारण बालक देवदत्त युवा और वृद्ध देवदत्त में तादात्म्य तथा अविच्छिन्नता है। वह सर्वत्र ज्ञाता या तटस्थ दर्शक के रूप में वर्तमान रहती है। ज्ञान के विषय परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु ज्ञाता या आत्मा सर्वत्र निर्विकार तटस्थ दर्शक के रूप में वर्तमान रहती है। आत्मा निर्विषयक चैतन्य रूप है, जो आनन्द स्वरूप है। वह अपने आप में स्थित रहती है यद्यपि सब वस्तुएँ उस पर स्थित हैं। स्वयं अगोचर होते हुए भी वह सब वस्तुओं को देखती है। यह वह है जो विश्व की अनन्त और विविध रूप क्रियाओं में तथा अंगों के अन्दर परिवर्तनों में नित्य और अपरिवर्तित रहती है। 'हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और वाणी के भी शान्त होने पर पुरुष के लिए ज्योति का कार्य कौन करता है ? आत्मा ही इस पुरुष की ज्योति है 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति'—आत्मा की ज्योति से ही वह कर्म करता है। आत्मा की ज्योति से ही वह बैठता, बाहर जाता, कर्म करता और लौटता है। वह आत्मा देह और इन्द्रियों से भिन्न है। वह अन्तरस्थ ज्योति है। इसे विषयों की भाँति इन्द्रियग्राह्य नहीं जान सकते। विषयों के स्तर पर इसे जानना असम्भव है। वह अविषय है। शाश्वत अन्तःसिद्ध आत्मा को हम वस्तुओं का भी सार्वभौम द्रष्टा है सभी ज्ञान का

आधार है, वह प्रमाण से परे है। उसे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वतःसिद्ध है। यद्यपि अपने आप में वह अदृश्य और अगम्य है तथापि वह सभी प्रकार के बोधों और विचारणाओं एवं ज्ञान की प्रत्येक क्रिया का आधार है। इसका निराकरण नहीं किया जा सकता है। जो इसका निराकरण करता है उसके निराकरण की क्रिया अथवा किसी प्रकार का चिन्तन इसकी पूर्वधारणा के बिना सम्भव नहीं है। आत्मा वह है जो चिन्तन की पूर्वमान्यता है। आत्मा कोई अंश या शक्ति नहीं है वह प्रत्येक अंग या शक्ति को सजीव और जीवित बना कर उसे निर्धारित और धारण करती है। देह मन और जगत् इस आत्मा या चैतन्य पर आरोपित आप कृत्रिम सीमाएँ हैं। विशुद्ध चैतन्य हमारे सामान्य जीवन में मनो-वैज्ञानिक विकारों और उद्वेगों से आच्छादित और सांसारिक बोध से सम्मिश्रित हो जाता है। सांसारिक जीव मानसिक और नाड़िक शक्तियों का विधान है। वह नाम रूपात्मक अहं से युक्त तथा सुख-दुःख का भोक्ता है। यह अपनी प्रकृति भूल कर उत्फुल्ल एवं आलोचना भूलकर विषण्ण हो उठता है। आत्म प्रज्ञा की भूली जीवात्मा सांसारिक प्रपंच में अपने आप को भूल जाती है। सांसारिक और परात्पर आत्मा के भेद तथा व्यक्ति के द्वयर्थक स्वरूप को ही उपनिषद् ने वृक्ष और दो चिड़ियों के रूपक में व्यक्त किया है। सांसारिक आत्मा के गोचर या प्रतिभासित स्वरूप को 'माया' शब्द व्यक्त करता है। माया जगत् और आत्माओं को भ्रमवत् या असत् सिद्ध नहीं करती क्योंकि विश्व का सम्पूर्ण प्रयास उस परम आत्मा को अंकित और प्रमाणित करता है जो सभी से भिन्न होते हुए भी सभी में निहित है। माया उस अनिर्वचनीय भ्रान्ति को इंगित करती है जिसके कारण हम अपने को अपनी वास्तविक आत्मा से पृथक कर आध्यात्मिक चेतना से अपना निर्वासन कर देते हैं। मनुष्य की इस भ्रान्तिपूर्ण प्रकृति के मूल में उसकी आत्मचेतन बुद्धि है। सत्य से विमुख यह बुद्धि स्वार्थमय दम्भपूर्ण और संकीर्ण है। समस्त मानव जीवन का लक्ष्य आत्म-निर्माण या आत्म-सीमातरण है। पर उस सारभूत निष्ठा को जीवन क

संबन्धों से वियुक्त करना है जो कि व्यक्ति के अंतरतम में सदैव वर्तमान रहती है।

मनुष्य अपने को देह इच्छाओं भावनाओं और विचारों से जब वियुक्त कर लेता है तब उसे प्राप्त कर लेता है जो शुद्ध बोध तथा उसकी विशुद्ध सत्ता की अनावृत स्थिति है। इस नियमित साधना द्वारा वह फिर से विशुद्ध सत्ता को और उस विषयी को प्राप्त कर सकता है जो चिंतन करता है इस प्रकार वह अपरोक्षत्व और एकत्व की स्थिति में पहुँच सकता है जहाँ विषमता और अव्यवस्था नहीं रहती है। जब हम सांसारिक जीव को आवृत रखने वाले चारों ओर के अन्धकार को चीर देते हैं एवं आत्मा को उपाधियों से रहित कर देते हैं तब हम यहीं और अभी इसी देह में अपने अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। तब मैं आत्मा और सिवात्मा एक ही हो जाते हैं। इन्द्रियरूप आत्मा संसारी जीव है; नित्य ज्ञानशक्तिरूप उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर है तथा उपाधिशून्य केवल और शुद्ध स्वरूप आत्मा अक्षर है। उपाधिशून्य आत्मा अनिर्वचनीय निर्विशेष और एक होने के कारण 'नेति-नेति' द्वारा वर्णित किया जाता है। 'वही एकमात्र सत्य है। वह समस्त भूतों में छिपा हुआ है 'वही तू है 'मैं ही यह सब हूँ 'यह सब आत्मा ही है 'आत्मा से भिन्न कोई द्रष्टा या साक्षी नहीं है—आदि उपनिषदों के कथन ब्रह्म के अद्वितीय स्वरूप के सूचक हैं।

मनुष्य के भीतर की दिव्यता और सत्यता उसके जीवन की उद्देश्यपूर्णता और प्रयोजनीयता को सिद्ध करते हैं। मानव कर्म स्व-चालित और आत्म-नियमित है। आत्म निर्धारित कर्मों का कर्ता अपने भाग्य का विधायक तथा अपने आचरण के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य के कर्म साभिप्राय और सहेतु होने चाहिए। वे अन्ध प्राकृतिक नियमों द्वारा या बाह्य शक्तियों द्वारा संचालित नहीं होने चाहिए। मानव जाति और व्यक्ति का भविष्य एवं भाग्य इस पर निर्भर है कि किन प्रेरणाओं से उसका जीवन संचालित होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास प्रकार

चरित्र के उत्कर्ष और उत्थान एवं मानवजाति के संरक्षण और पूर्णता के लिए हिन्दू धर्म मानव जीवन को चार साधना-कालों एवं आश्रमों (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास) मे विभाजित कर देता है। ये आश्रम मनुष्य का आंतरिक विकास करने के साथ ही उसे सामाजिक दायित्व का भागी बनाकर वैयक्तिक कर्मों को सामाजिक अनुरूपता में बांध देते हैं। वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्य अभिन्न भाव से गुंथे हुए हैं। अतः वैयक्तिक आचरण के लिए सामाजिक मूल्य का निर्वाह करना आवश्यक है। साथ ही साधना की स्थितियाँ यह विज्ञापित करती हैं कि मानव जीवन शाश्वत जीवन के लिए तीर्थयात्रा है। इन चारों आश्रमों द्वारा हिन्दुत्व ने मानव स्वभाव और मानव जीवन का व्यापक परिचय दिया है। व्यक्ति और समाज अलग-अलग कर्म करते हुए आध्यात्मिक ध्येय की एकता में बंधकर मूलगत श्रम के मानत्व को भोगते हैं। मेरे और तेरे का सम्बन्ध घृणा और प्रतिद्वन्द्विता का सम्बन्ध नहीं है। यह एक दूसरे के व्यक्तित्व को पहिचानने का सूचक है। आदर और समानता का द्योतक है।

आश्रमों की रचना द्वारा हिन्दुत्व ने सापाकृप्याग के अनुसार, कर्त्तव्यों की स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित कर दी है। ब्रह्मचर्यावस्था व्यक्ति के आंतरिक जीवन को संतुलित करती है। उसे आत्मा के उस ज्ञान से परिचित करती है जो उसके आंतरिक जीवन को संयोजित करने के साथ ही उसे समाज के साथ संयोजित होने की शक्ति प्रदान करती है। आत्म ज्ञान द्वारा व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्मों और कर्त्तव्यों को निर्धारित कर सकता है। ब्रह्मचर्य अवस्था में नमनीय तरुण वयस को देह और मन के उचित प्रशिक्षण और अनुशासन द्वारा कर्त्तव्य के सांचे मे ढाल दिया जाता है। जब उसमे दायित्व ग्रहण करने की शक्ति एवं कर्त्तव्यबोध जाग्रत हो जाता है तब उसे समाज में रह कर गृहस्थ जीवन यापन करने का आदेश दे दिया जाता है।

गृहस्थाश्रम मानव जीवन की अनिवार्य स्थिति है। यह मात्र काम

संरक्षक सहायक तथा प्रतिभावक है। दोनों ही पारस्परिक आदान प्रदान स्नेहपूर्ण त्याग और कर्तव्य का पालन करते हुए अपना जीवन मंगलमय बनाते हैं। पति-पत्नी का समवेत जीवन उच्च आदर्शों के लिए साधन है एवं वैयक्तिक इच्छाएं आदर्श प्राप्ति के लिए सहायक हैं न कि बाधक। शारीरिक प्रेम का उन्माद ही आत्मविस्मृत भक्ति है। स्त्री-पुरुष का प्रेम कदापि यह सूचित नहीं करता कि वे सभी भाँति पूर्णतः समान हैं। दो वस्तुओं या प्राणियों में बिलकुल समानता हो ही नहीं सकती सृष्टि का वैचित्र्य सार्वभौम असमानता पर आधारित है। यदि दो वस्तुएं पूर्णतः समान हैं तो वे दो नहीं एक हैं। वस्तुओं में वैयक्तिक विशिष्टता पारस्परिक भिन्नता अवश्य होनी चाहिए, यह उनके निजी व्यक्तित्व की मांग है। पर विश्व की विविधता असम्बद्ध इकाइयों के अस्तित्व की भी सूचक नहीं है। अनकता के मूल में सत्तात्मक एकता है। सार्वभौम चैतन्य सभी में निहित है। पति-पत्नी अपना वैशिष्ट्य रखते हुए सत्ता त्मक रूप से एक ही हैं। दोनों ही आध्यात्मिक प्राणी हैं। दोनों के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक है। विवाह उनके स्वभाव की अपरिवर्तनशील विशेषताओं को मिटा नहीं सकता किन्तु उन्हें संगतिपूर्ण जीवन की वृद्धि के लिए उपयोगी और सहायक अवश्य बना सकता है। प्रेम के सागर की एकता वैयक्तिक भिन्नताओं को पृष्ठभूमि में डाल सकती है। कितना ही देख-सुन कर या समझ-बूझ कर विवाह क्यों न किया गया हो वह प्रतारणा एक लट्टू है और इस लट्टू को सफल बनाना ही मुख्य गृहस्थ का कर्तव्य है। विवेकशील प्राणियों के लिए अयोग-अयोगी या सभी का जीवन नश्वर-महचारी में वरस वैसा असाध्य नहीं। उचित तर का परिणाम सदैव हित होता है वैवाहिक जीवन इसका उदाहरण है। किन्तु जैसे विवाह उपन्यासों और चलचित्रों के नायकों के कराए जाते हैं अथवा विवाह-विच्छेद को ध्यान में रख कर किए जाते हैं वे स्पष्ट ही असफल और कटु होते हैं। विवाह विलास-आनन्द और मुनाफाखोरी नहीं है वह एक कर्तव्य जीवन का प्रारम्भ है जहाँ एक व्यापक आदर्श की प्राप्ति है

वासना की तृप्ति नहीं है, वह उच्च ध्येय के लिए प्रशिक्षण है। वैराग्य भाव तब तक अनुचित है जब तक व्यक्ति अपनी इच्छाओं को उनका स्वाभाविक अधिकार देकर सन्तुष्ट नहीं कर देता है। इच्छाओं का अनुचित दमन दुष्परिणामयुक्त है। वे जीवन विकास में सहयोगी बनने के विपरीत बाधक हो जाती हैं। उन्हें उनका स्वाभाविक स्वतंत्र जीवन प्रदान करना चाहिए। वैरागी प्रवृत्तियों को तब तक प्रोत्साहित करना चाहिए जब तक कि इच्छाओं को उनकी सहज सामान्य अभिव्यक्ति नहीं मिल जाय। इसी अर्थ में विवाह पवित्र है एवं विवाह से वंचित रहना अनुचित तथा वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य से विमुख होना है। वही अपना कर्तव्य पालन कर सकता है जिसका आंतरिक जीवन संतुलित है। अन्यथा अंतर का कोलाहल और द्वन्द्व बाहर फूट पड़ता है। अतृप्ति से पीड़ित व्यक्ति का न तो अंतर ही व्यवस्थित हो पाता है और न वह बाह्य को ही व्यवस्थित कर पाता है। विवाहित जीवन के औचित्य को समझाने के लिए ही हिन्दुत्व ने सदैव सगुण ईश्वर की कल्पना उसकी संगिनी शक्ति के साथ की है। विष्णु लक्ष्मी से मंडित हैं, तो शिव पार्वती से। शिव का अर्धनारीश्वर रूप शिव पर कामवासना का अश्लील आरोपण नहीं है वरन् व्यक्ति के स्वस्थ आध्यात्मिक विकास के लिए दाम्पत्य जीवन का धर्म द्वारा अनुमोदन है। दाम्पत्य जीवन द्वारा व्यक्ति अपना भौतिक और नैतिक विकास करते हुए वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों का समुचित निर्वाह करता है। व्यक्ति का परिवार उसे केवल उन्हीं से युक्त नहीं करता जो जीवित हैं किन्तु उनसे भी जो मर गए हैं एवं जो आगे आने वाले हैं। विवाह एक प्रकार से सहकारिता है। यह व्यक्ति के सर्वांगीण सम्यक विकास तथा मानव-वंश वृद्धि के लिए अनिवार्य है। यह मानव दुर्बलताओं को उतनी छूट नहीं देता जितना कि वह आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक सोपान एवं साधन है। पत्नी सहचरी, सहगामिनी और अर्धांगिनी है न कि दासी या [illegible] सुन्दरी। और पति निरंकुश शासक या [illegible] अधिनायक न होकर प्रियतम

संरक्षक सहायक तथा अभिभावक है। दोनों ही पारस्परिक आदान प्रदान स्नेहपूर्ण त्याग और कर्तव्य का पालन करते हुए अपना जीवन मंगलमय बनाते हैं। पति-पत्नी का समवेत जीवन उच्च आदर्श के लिए साधन है एवं वैयक्तिक इच्छाएं आदर्श प्राप्ति के लिए सहायक हैं न कि बाधक। शारीरिक प्रेम का उन्नयन ही आत्मविस्मृत भक्ति है। स्त्री-पुरुष का प्रेम कदापि यह सूचित नहीं करता कि वे सभी भांति पूर्णतः समान हैं। दो वस्तुओं या प्राणियों में बिलकुल समानता हो ही नहीं सकती सृष्टि का वैचित्र्य सार्वभौम असमानता पर आधारित है। यदि दो वस्तुएं पूर्णतः समान हैं तो वे दो नहीं एक हैं। वस्तुओं में वैयक्तिक विभिन्नता पारस्परिक भिन्नता अवश्य होनी चाहिए, यह उनके निजी व्यक्तित्व की मांग है। पर विश्व की विविधता असम्बद्ध इकाइयों के अस्तित्व की भी सूचक नहीं है। अनेकता के मूल में सत्तात्मक एकता है। सार्वभौम चैतन्य सभी में निहित है। पति-पत्नी अपना वैशिष्ट्य रखते हुए सत्तात्मक रूप से एक ही हैं। दोनों ही आध्यात्मिक प्राणी हैं। दोनों के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक है। विवाह उनके स्वभाव की अपरिवर्तनशील विशेषताओं को मिटा नहीं सकता किन्तु उन्हें सफलतापूर्ण जीवन की वृद्धि के लिए उपयोगी और सहायक अवश्य बना सकता है। प्रेम के सागर की एकता वैयक्तिक भिन्नताओं को पृष्ठभूमि में डाल सकती है। कितना ही देख-सुन कर या समझ-बूझ कर विवाह क्यों न किया गया हो वह संतत एक यज्ञ है और इस यज्ञ को सफल बनाना ही सुख गृहस्थ का कर्तव्य है। विवेकशील प्राणियों के लिए संयोग-वियोग या सुखी का जीवन ... में बदल देना असाध्य नहीं। उचित पथ का परिणाम सदैव हित होता है वैवाहिक जीवन इसका उदाहरण है। किन्तु जैसे विवाह जल्दबाजी और माता-पिता के आवेगों के कारण जाते हैं अथवा विवाह-विच्छेद को ध्यान में रख कर किए जाते हैं वे स्पष्ट ही असफल और कटु होते हैं। विवाह विलास-आरम्भ और सुखान्त नहीं है वह एक कर्मठ जीवन का आरम्भ है जहां एक व्यापक आदर्श की प्राप्ति है

लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और प्रवृत्तियों को समर्पित करना होता है। दो बिलकुल ही भिन्न व्यक्तित्वों को सम्मिलित आदर्श के लिए अनवरत कर्म निरत किया जा सकता है। नियन्त्रण और सहनशीलता द्वारा मानव प्रेम को दिव्य बनाया जा सकता है। वही विवाह मानवोचित योग्य और स्वागतीय है जो एक पति पत्नीव्रती है। विवाह-मण्डप में प्रवेश करने के साथ ही जो व्यक्ति यह सोचने लगता है कि मनोनुकूल न होने पर छोड़ दूँगा या निभा न सकने से जीवन दुःखद हो जायेगा वह कभी भी सफल पति या पत्नी नहीं बन सकता और कभी भी उस मानसिक शांति को नहीं पा सकता जिसका वह अधिकारी है। हिन्दू धर्म में बहुपत्नी विवाह का उदाहरण दशरथ का जीवन है। जीवन को सफल बनाने के लिए दाम्पत्य सम्बन्ध को आध्यात्मिक सूत्र की अनन्य एकता में गूँथना होगा। विवाह सम्बन्ध अविच्छेद्य है यह मानव विकास के लिए साधना है। जो विवाह को कामतृप्ति-मात्र मानते हैं वे वास्तविक सुख नहीं भोग पाते हैं। काम-सम्बन्ध न तो दूसरे व्यक्तित्व का आदर ही करता है और न जीवन की गाड़ी को चलाने में सहायक ही होता है। ऐसे व्यक्ति का मन काम-तृप्ति होने पर या तो विमुख हो जाता है या वितृष्णा असंतोष और क्षोभ से भर जाता है। दो व्यक्तियों के बीच पूर्ण और सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दोनों को प्रयास करना पड़ता है। जिस भाँति व्यक्ति को सभी चीजें अनायास और सहज ही प्राप्त नहीं हो जातीं उसी भाँति दाम्पत्य सुख के लिए भी प्रयास करना पड़ता है। सहनशीलता त्याग सद्भाव एवं तप और साधना के बिना वह सुखद जीवन असम्भव है जो कि विवाह का ध्येय है। दो व्यक्तियों की असमानता मानव-विवेक और कठोर श्रम को चुनौती देती है न कि विवाह-विच्छेद को निमंत्रण। विच्छेद मानव-पराजय का सूचक है वह कर्तव्यनिष्ठ मानव के माथे पर कलंक का टीका है। वह उस भ्रान्ति का सूचक है जिसके कारण मनुष्य अपने को बहुत अधिक महत्व देकर अपने को महामानव समझने लगता है। व्यक्तित्व का मिथ्या बोध घातक है। वह इच्छाओं की स्वेच्छा-

चारिता में अपने को मिटा देना एवं आत्मसम्मान के नाम पर सहज प्रवृत्तियों और वासनाओं के भंवर में बह जाना है। यह अपने को हृष्ट पुष्ट स्वस्थ पशु मात्र समझता है न कि आध्यात्मिक प्राणी। वर्तमान कोलाहलपूर्ण वेगमय जीवन ने मानव की चिन्तनशक्ति को सुला दिया है। घटनाओं कर्मों और असंगतियों के मंझधार में पड़कर वह अपने बारे में सोचना भूल गया है—मैं क्या हूं मेरा क्या कर्तव्य है ?—ऐसे विचार उससे उतने ही दूर हो गए हैं जितनी कि अग्नि से शीतलता। वह नर पशु हो गया है। 'मैं जो चाहता हूं उसे करने की मुझ में शक्ति है। मैं मेरा व्यक्तित्व मेरी महान् स्थिति मेरा भावप्रवण स्वभाव संसार के तार न मुझसा न जाय—यही दुश्चिन्ताएं आज उसे व्याकुल तथा मथित किए हुए हैं। नरपशु अपने को उठा कर सम्मान देने के बदले व्यभिचार कर रहा है। उन्मुक्त मौम वातावरण में निस्संकोच रमण कर रहा है।

जब देह जराग्रस्त हो जाती है, व्यक्ति के बदन में झुर्रियां पड़ जाती हैं उसकी शारीरिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है तब वह गार्हस्थ के दायित्व से मुक्ति पा लेता है और पितामह बन कर अपने लिए वन के एकान्त शांत वातावरण को वरण कर वानप्रस्थाश्रम में एकाग्र मन से आध्यात्मिक समस्याओं पर चिंतन कर सकता है। मनुष्य को अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक सांसारिक उलझनों में नहीं पड़ा रहना चाहिए। उसे अपने आंतरिक सत्य को पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए। वह राष्ट्र और समाज का नैतिक संरक्षक और धनोपार्जन का साधन होने के साथ ही मूलतः आध्यात्मिक प्राणी है। जब तक उसकी शारीरिक शक्तियां सबल हैं उसे सामाजिक दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। तत्पश्चात् अपने वास्तविक सत्य का जीवन जीना चाहिए। परिवार के लिए व्यक्ति का त्याग समाज के लिए परिवार का देश के लिए समाज का और आत्मा के लिए समस्त विश्व का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की एक विशिष्ट स्थिति में अपनी पत्नी बच्चों जाति और धर्म का त्याग कर देना चाहिए। जीवन के अन्तिम पक्ष को प्रत्येक

व्यक्ति को अकेले ही बिताना होता है। आत्मा जो कि हमारा आध्यात्मिक जीवन है अपने अन्दर हमारी निस्सीमता को संगृहीत रखती है। व्यक्ति को क्या लाभ होगा यदि वह सम्पूर्ण विश्व को पाकर अपने को खो देता है। वृद्धावस्था का आगमन उस उच्च सत्य की याद दिलाता है कि समय आ गया है, अब अपने को पहिचानो।

वानप्रस्थाश्रम की परिणति सन्यासाश्रम है। सन्यासी का लक्ष्य बाह्य जीवन की चिंताओं से मुक्ति नहीं है किन्तु आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की उस स्थिति को प्राप्त करना है जब कि अर्थ मन तथा सांसारिक विषय उसके लिए गुड़ियों के खेल के समान हो जाते हैं। मान-अपमान सुख-दुःख से तटस्थ वह सबके प्रति समानता अनुभव करता है। प्राणि-मात्र को आत्मवत् प्रेम देता है। एकता के आनन्द में लीन वह न किसी का अपमान करता है और न अपने प्रति किया हुआ अपमान ही उसे चुभता है। वह अपने सांसारिक जीवन के कारण किसी से घृणा या द्वेष नहीं करता। प्रेम में उसका वास है सदाचार उसका धर्म है। विश्व का समस्त जीवन ऐसे तपःपूत व्यक्तियों की सेवा सद्भाव तथा सत्संकल्प पर ही जी रहा है अन्यथा दानवी शक्ति ने कभी उसका ध्वंस कर दिया होता। सन्यासी वह है जो सभी मनुष्यों समुदायों जातियों वर्गों और धर्मों में समानता देखता है। ऊँच-नीच गरीब-अमीर सब आध्यात्मिक एकता के प्रकाश में घुल-मिल जाते हैं। 'समता सर्वस्मिन्' को चरितार्थ करने वाला सन्यासी महान् आत्मा है। किन्तु संन्यासी के जीवन की महानता गृहस्थाश्रम को निम्न नहीं बनाती। गृहस्थाश्रम भी स्तुत्य है आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य सोपान है। वास्तव में मनुष्यत्व अपनी विभिन्न अवस्था में भी किसी भी आश्रम का उसी भाँति तिरस्कार नहीं कर सकता जिस भाँति पुष्प मंजरी का मंजरी फल का पत्ता [illegible] और [illegible] जड़ का तिरस्कार नहीं कर सकता। मनुष्य का पूर्ण समन्वय में विकास वांछित है न कि आंशिक। पूर्ण समन्वित व्यक्तित्व ही उस [illegible] के प्रादुर्भाव का कारण बनती है।

मुक्त आत्मा विश्व-कल्याण से तटस्थ नहीं है किन्तु अत्यधिक संश्लिष्ट है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि वह निर्वाण के प्रवेशद्वार से वापिस लौट आए और उन्होंने संकल्प कर लिया कि वह तब तक उस पार नहीं जाएंगे जब तक एक भी व्यक्ति दुःख और वेदना से ग्रस्त है। विषपान करते हुए महादेव अलिप्त होते हुए भी लिप्त हैं। जब वैरागियों के शिरोमणि ने विश्व के कल्याण के लिए विषपान किया तब अन्य वैरागी कैसे विश्व के दुःख-दर्द से मुक्त हो सकते हैं। वास्तविकता में पलायन संन्यासी का धर्म नहीं है। संन्यासी वह है जो विश्वव्यापी में आत्म-चेतना अनुभव करता है। जिसका हृदय विश्व के दुःख में चीत्कार कर उठता है। मैं आठ पूर्णताओं से युक्त परम आनन्द की स्थिति नहीं चाहता और न मैं पुनर्जन्म से मुक्ति चाहता हूँ। मैं उन सब प्राणियों के दुःख को स्वयं भी सहना चाहता हूँ जो दुःखग्रस्त हैं, ताकि वे उनसे मुक्त हो सकें। मुक्त जीव को पर के दुःख पर कृत्रिम मुस्कान नहीं आती है। वह दूसरे का दुःख स्वयं बांटने को आतुर हो उठता है। अस्तित्व के उच्चतम स्तरों पर मुक्ति अपने आपको सांसारिक सहनशीलता, त्याग और मृत्यु वरण द्वारा अभिव्यक्त करती है। 'दूसरे के लिए तपना उन्हें प्रेम देना—यही मुक्त आत्मा का लक्ष्य है। विश्व-कल्याण के मत को मान्यता देते हुए राधाकृष्णन का कहना है कि अद्वैतवाद के अनुसार मुक्ति शाश्वत रूप में व्यक्ति का विषय नहीं है। मुक्ति यह इंगित करती है कि यद्यपि मुक्त आत्मा मुक्ति के क्षण में चेतना की सार्वभौमिकता को प्राप्त कर लेती है तथापि जब तक विश्व-क्रम है वह सर्व के केन्द्र के रूप में अपने निजत्व को रखती है। जब सब आत्माएँ चेतना के ज्ञान को प्राप्त कर लेती हैं अथवा मुक्ति प्राप्त कर लेती हैं तब विश्व अपने लक्ष्य को पा लेता है। तब इस विश्व-क्रम का वह कारण कर लेता है जो काल के परे है। राधाकृष्णन् सार्वभौम मुक्ति के समर्थक हैं। उनका कहना है, यदि प्रत्येक आत्मा भगवान् की प्रिय है तो सार्वभौम मुक्ति एक अनिवार्य तथा निश्चित तत्त्व है।

हिन्दुत्व ने मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए चार लक्ष्य माने हैं—धर्म अर्थ काम और मोक्ष । धर्म यदि प्रथम लक्ष्य है तो मोक्ष अन्तिम है । सांसारिक जीवन धर्म का जीवन है । यह मोक्ष के लिए साधन है । मनुष्य की इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ सभी सिद्ध हो सकती हैं यदि उन्हें धर्म से निर्देशित किया जाए । धर्म सदाचार की स्थापना है । मनुष्य अपनी आकांक्षाओं की प्राप्ति धर्म द्वारा कर सकता है । धन जीविकोपार्जन के उचित साधनों पर प्रकाश डालता है । अर्थ बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति और सम्पदा के लिए लालसा है । यह लालसा जीवन के आर्थिक और राजनीतिक पक्ष से संबद्ध है । जन सामान्य में सम्पत्ति की इच्छा होती है और इस इच्छा का समुचित मूल्यांकन उचित है । सुख और सम्पत्ति की इच्छा-पूर्ति धर्म या सदाचार द्वारा करनी चाहिए । इनकी पूर्ति वहीं तक उचित है जहाँ तक कि इन्हें धर्म का अनुमोदन प्राप्त है । अन्यथा वर्तमान युग इसका प्रमाण है कि सुख की लालसा विकराल रूप ग्रहण कर लेती है और नृशंसता तथा पाशविकता मानवता को निगलने लगती है । काम मनुष्य स्वभाव के कलात्मक और सांस्कृतिक पक्ष को व्यक्त करता है । कला और संस्कृति का मंगल मय विकास नैतिक माध्यम से ही सम्भव है । समस्त जीवन में धर्म या नैतिकता की परिमार्जना ही मोक्ष की जननी है । मोक्ष आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या आध्यात्मिक बोध है । मनुष्य जैव या शारीरिक आवश्यकताओं से युक्त होते हुए भी तत्वतः आध्यात्मिक प्राणी है । वह मात्र रोटी के लिए नहीं जीता और न धर्म पूंजी इच्छाओं प्रवृत्तियों और शक्ति के लिए ही जीवित रहता है । इन सबका मूल्य और सम्बन्ध उसकी आन्तरिक जीवित आत्मा में है । बाह्य तत्वों की तुष्टि आत्मतुष्टि नहीं है । उसकी विशुद्ध आत्मा चैतन्यमय है । वह मूलतः इसी आत्मा का जीवन जीता है । वह रहता है और उसे रहना भी आत्मा ही के लिए चाहिए । मोक्ष आत्मा का सम्पूर्ण जीवन है । यह आत्मपुष्टि तथा हमारी अन्तरात्मा की परिपूर्णता है । यही परम सन्तोषदायक है । अन्य सभी धर्मों

को उस ध्येय की प्राप्ति के लिए निर्देशित करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतन्त्र संकल्प है। वह अपने स्वभावानुसार मुक्ति-मार्ग या साधना मार्ग को चुन सकता है। मानव स्वभाव की ज्ञानात्मक रागात्मक तथा क्रियात्मक—इन तीन प्रवृत्तियों के अनुरूप तीन मार्ग हैं, ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग। तीनों उसी भाँति परस्पर सम्मिलित हैं जिस भाँति समस्वरता (सिमफनी) के तीन भिन्न स्वरों का संगम। तीनों का लक्ष्य तीनों की धुन एक ही है किन्तु स्वर या स्वभाव भिन्न हैं। अपनी उच्चतम उड़ान में भक्ति ज्ञान से मिल जाती है और ये दोनों उचित कर्म या सद्गुण-युक्त जीवन में प्रस्फुटित होते हैं।

राधाकृष्णन हिन्दुत्व द्वारा स्वीकृत चारों आश्रमों और लक्ष्यों का अनुमोदन करते हुए कहते हैं कि यह पृथ्वी के राज्य और स्वर्ग के राज्य को एकता मे बाँध देता है। स्वाभाविक इच्छाओं और सामाजिक कर्तव्यों के मानव जगत् तथा आध्यात्मिक जीवन की साधनाओं और आकांक्षाओं में विरोध अथवा संघर्ष नहीं है। वे अन्धकार और प्रकाश की भाँति नहीं हैं। दीपक की लौ और सूर्य के प्रकाश के समान हैं। दोनों ही सत्य हैं। किन्तु एक मे विपुल स्थायित्व और अमरत्व का सत्य अधिक है। सांसारिक जीवन पूर्ण सत्य की ओर तीर्थयात्रा है। वह असत्य नहीं है। वह अप्रस्फुटित कली है उसमें अव्यक्त सत्य है। उसे ठीक ढंग से सींच कर उसकी देखरेख करनी होगी। अन्यथा वह बिना खिले ही मुरझा जाएगा। चार आश्रमों और चार लक्ष्यों के माध्यम से जीवन को व्यवस्थित कर यह सिद्ध किया गया है कि भौतिक जगत् मानव जीवन का आदि और अन्त नहीं है। मनुष्य-मात्र जैव प्राणी नहीं है। वह शाश्वत से वियुक्त नहीं हो सकता। क्रमिक या विकासवान और क्षणभंगुर कर उसे उस ओर ले जाता है जो अमर पूर्ण शाश्वत और अविनाशी स्वरूप है। शाश्वत का ज्ञान लौकिक का निराकरण नहीं करता वह उसकी सत्यता को महत्ता और नित्यता प्रदान कर उसे आध्यात्मिक संदर्भ में समझाता है। सभी सांसारिक सम्बन्धों का अन्त अवश्यम्भावी है किन्तु वे उत्तरदा-

नहीं उन्हें त्याज्य मानना मानक तथा सत्य से विमुख होना है । शाश्वत ही कालिक में व्यक्त होता है तथा कालिक ही शाश्वत की प्राप्ति का मार्ग है । मोक्ष जगत् का विलीनीकरण न होकर उसके प्रति भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण का मिट जाना है । सांत में निहित सत्य असीम सत्य का मार्ग है । सांत और असीम एक दूसरे से युक्त हैं । उन्हें विच्छिन्न नहीं किया जा सकता । निराकार, अनाम और अरूप ही सर्वव्यापक जीवन है । वे अन्धकार में हैं जो केवल जगत् की पूजा करते हैं किन्तु वे अधिक गहन अन्धकार में हैं जो केवल असीम को पूजते हैं । वह जो दोनों को स्वीकार करता है जगत् के ज्ञान द्वारा अपने को मृत्यु से बचाता है और शाश्वत के ज्ञान द्वारा अमरता प्राप्त करता है ।'

यह समस्त विश्व अपने अस्तित्व के लिए शाश्वत सत्ता पर आश्रित है । वही वास्तविकता वही सभी की आत्मा है । वही व्यक्ति है 'वही तुम हो —'तत्त्वमसि' । आत्मा ही सत्ता का मर्म है । वह वह आन्तरिक सूत्र है जिसमें बंधे हुए होने के कारण विश्व का अस्तित्व अपनी समस्त विविधता के साथ है । वह सत्य का भी सत्य है 'सत्यस्य सत्यम्' । यह वैविध्यपूर्ण विश्व भ्रम नहीं है सत् है यद्यपि निम्न कोटि का है क्योंकि यह परिवर्तन बुद्धि और भ्रम का विषय है । वह व्यक्ति जो परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर स्वभाव की ओर जाता है वह पूर्ण व्यक्ति अपने जीवन को सत्य के प्रकाश से नियमित करता है । चेतना का जीवन मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को सन्तुष्ट करने के साथ ही उसे विश्व भाव से मुक्त कर देता है । वह उस सार्वभौमिकता को प्राप्त कर लेता है जो अनन्त जीव है । अभी तक उसकी जो शक्तियाँ संकीर्ण स्वार्थों के कारण सीमित थीं वे व्यापक ध्येय के लिए उन्मुक्त हो जाती हैं । आशा का सिद्धांत यह मानता है कि जब हम मात्र सांसारिक विषयों और भौतिक इच्छाओं से रहित हो जाते हैं तब हमारा अपने वास्तविक अस्तित्व में प्रवेश हो जाता है । यह उस वास्तविकता से परिचय करा देता है जो हमें अस्तित्व और मूल्य देती है । भौतिक विषय इतने मोहक हैं कि अपने प्रति हमारा तीव्र

मोह उत्पन्न कर देते हैं वे स्थूल इच्छाओं को जन्म देते हैं। इच्छाओं का विश्व हमारी आन्तरिक सत्ता को सन्तुष्ट नहीं कर पाता वह उन्मत्त अव्यवस्था में विकीर्ण हो जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम ऐहिक कल्याण से विमुख हो जाएँ, या देह-मन से घृणा करने लगें अथवा देह को नरक का द्वार कह वितृष्णा से भर जाएँ। देह मन और आत्मा के बीच किसी प्रकार का द्वन्द्व सम्भव नहीं है। उनकी समग्रता ही जीवन है। इनम से किसी एक का दमन आत्म-पूर्णता में बाधक है। देह आत्मा की आवश्यकता है। प्रत्येक आत्मा देह से युक्त है। फिर वे लोग जो पुन र्जन्म में विश्वास रखते हैं देह से घृणा नहीं कर सकते। बिना देह की सत्यता को स्वीकृत किए वे आत्मा का एक देह से दूसरी देह में प्रवेश नहीं समझा सकते हैं। दैहिक जीवन का भी अर्थ है। धार्मिक लक्ष्य के लिए उसका दमन नहीं किया जा सकता उसे धर्म के लिए साधन एव कर्मक्षेत्र बनना है। उच्च सत्य के प्रकाश में सांसारिक आत्मा को शुद्ध करना उसका उन्नयन और पुनर्निर्माण करना होगा जिससे चेतना का स्फुलिंग दीप्ति हो कर नवीन मनुष्यत्व में विकसित हो सके। दिव्य मनुष्य रूपान्तरित व्यक्ति है। दिव्यता का संचार व्यक्ति की अतृप्त आत्मा का मर्दन कर देता है। दिव्य कोई भिन्न आत्मा नहीं मनुष्य की ही वास्तविक आत्मा है जो यहाँ है उससे कहीं अधिक निकट है। प्रकृति के विकास में मनुष्य अपना भिन्न निजत्व रखता है किन्तु चेतना के विकास में दिव्य ने उसके व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण कर उसे स्वीकार कर लिया है। मानव-आत्मा देह से युक्त है किन्तु उसका जीवन देह में केन्द्रित नहीं है। वह देह को अपने लिए साधन बनाती है। आत्मा की देह से मुक्ति उसकी अमरता को खण्डित नहीं करती आत्मा देह का विकार नहीं है वह देह के नाश विनाश को प्राप्त नहीं होती। हम आत्मा की अमरता को देह की अमरता उसके भौतिक सातत्य से भिन्न देते हैं। जीवन एक अनवरत प्रवाह है। प्रकृति में सतत परिवर्तन नवीनीकरण द्वारा जीवन का संतान और अनवरत विकास होता है। आत्मा धर्म

व्यापार की पूर्णता या व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयास करती है। आत्मा में अनन्त उन्नति की क्षमता और शाश्वत के लिए व्यापक तत्त्व उस भविष्य को लक्षित करते हैं जहाँ आत्मा की 'अखण्ड पूर्णता' चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त करती है। जीवन में ऐसा कुछ नहीं है जो हमारे भविष्य को संदिग्ध या बाधित करे। प्रकृति सर्वत्र आश्वासन देती है कि हमारी पूर्णता हमारा प्रारब्ध है और हम उसे पा लेंगे किन्तु मानव अपनी दुर्बलताओं से ग्रस्त होने के कारण थोड़ी-सी देर में निराश हो उठता है। जिस भगवान् के लिए हमारे हजारों वर्ष एक दिन की भाँति हैं उसके बच्चों को इस बात पर हताश नहीं होना चाहिए कि वे अपनी पूर्णता को एक जीवन में प्राप्त नहीं कर पाए। यह कहना गलत है कि हमें एकमात्र अवसर इसी जीवन में मिला है। जीवन भूत वर्तमान और भविष्य की तारतम्यता है। हम विरसे में कुछ लेकर आए हैं। आत्मा इस जीवन में एक विशिष्ट स्वभाव और वंशानुगत गुणों को लेकर प्रवेश करती है। हम उस प्रतिभा का वर्णन करते हैं जो मनुष्य को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त है। कहते हैं कि किसी विशिष्ट प्रतिभा को संगीत के लिए रुचि या सौंदर्य के लिए दृष्टि है। यदि देह के साथ ही आत्मा का निर्माण मान लें उसके पुनर्जन्म और अमरता को अस्वीकार कर दें तो ऐसे तथ्यों का स्पष्टीकरण असम्भव हो जायेगा। साथ ही शिक्षा और अनुभव व्यर्थ हो जायेंगे। सामान्य रचनात्मक विकास के अन्तर्गत पुनर्जन्म एक परिवर्तन-मात्र है। मृत्यु जीवन-विकास में कोई अवरोध नहीं है। वह प्रकृति की अनवरत घटित होती हुई क्रम का पक्ष है। व्यक्ति के इतिहास में संक्रमण ही वह क्षण है जब आत्मा नई परिस्थितियों को स्वीकार करती है।

मनुष्य इस आस्था से विश्व में जीता और कर्म करता है कि जीवन अपनी विशुद्ध प्रकृति में सर्वत्र सुन्दर और पवित्र है और इसका विरूपी करण पाप है। मनुष्य के लिए एक ही आदर्श या लक्ष्य है अपने आपको गहनतम एवं पूर्णतम बनाना। समग्र या पूर्ण मनुष्य ही आदर्श मनुष्य है।

अपनी सर्वोच्च और अन्तरतम आत्मा का खोजना ईश्वर को खोजना है। यद्यपि भगवान् सर्वत्र है तथापि उन्हें अधिक सरलता से आत्मा में ही पहिचाना जा सकता है। आत्मानम् विद्धि 'आत्मानं' मन—मानव मस्तिष्क का मंत्र है। आत्माविष्कार, आत्मज्ञान आत्मपूर्णता ही मनुष्य का प्रारब्ध है। किसी भी आध्यात्मिक धर्म का मूल सूत्र यही है कि हमारी वास्तविक आत्मा परम सत्ता है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसे खोजें प्राप्त करें और प्रत्येकत्व से वही हो जाएँ। यह सत्ता सभी में एक है। जिस आत्मा ने अपने को प्राप्त कर लिया है वह विश्व-जीवन से अपने पृथक्त्व का अनुभव नहीं करती अथवा अपने को अकेला या असम्बद्ध नहीं समझती है। वह उस सार्वभौम जीवन के बारे में जाग्रत् है जिसकी सभी व्यक्ति, जातियाँ और राष्ट्र विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। यह आत्मा का समस्त सत्ता के साथ शाश्वत एकत्व का अनुभव है जो इन शब्दों में मुखर हो उठता है 'तू मुझमें और मैं तुझमें है'। सायुज्य ही जीवन है और इसका अभाव मृत्यु है। मानव जाति की ठोस और गूढ़ सामाजिकता एकता और पारस्परिक निर्भरता से हम बच नहीं सकते हैं। शान्ति से जीने के लिए मनुष्य को स्वार्थपरायणता का त्याग कर व्यापक सत्य को पकड़ना होगा। विश्वचेतना से कर्मों का संचालन करना होगा।

आधुनिक युग में राष्ट्रीय और जातीय संकीर्णता ने मनुष्य के सामाजिक स्वभाव को विकृत कर दिया है। वह अनेक भागों और विभागों में बँट गया है। उसकी उन्नति अवरुद्ध हो गई है। आज मनुष्य की दृष्टि में मनुष्यत्व गौण हो गया है। धर्म विचार, संप्रदाय तथा सिद्धान्तों के घातक रोगों से वह पीड़ित है। उपचार के बहाने वह निम्न प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित कर रहा है। दूसरे पर क्रोध करना आतंकित करना, उनकी हत्या करना और लूटना उसके लिए रात-दिन का खेल हो गया है। उसकी पाशविक प्रवृत्तियों ने उसे अंधा कर दिया है। वह ईश्वरेच्छा के नाम पर आध्यात्मिक दृष्टि से घृणित और दूषित कर्म करता है। अपने यहाँ को इस मिथ्याभिमान से प्रसन्न रखता है कि वह सदाचारी

है। अपने कार्य कारनामों को दोनों हाथ नचाकर और सिर ऊँचा कर निर्दोष और पवित्र बतलाता है। उसकी अन्ध लिप्सा भूल जाती है कि सब व्यक्तियों जातियों राष्ट्रों वर्गों और धर्मों का मूलगत आधार एक ही है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति है, मानवता विश्व में सभी को श्रेष्ठ जीवन जीने का अधिकार है। सामर्थ्यवान् सशक्त व्यक्तित्व दूसरे को भूखे उसे पैरों तले रौंदे यह दानवता है मनुष्यता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति नागरिक स्वतन्त्रता का भागी है प्रत्येक देश को चाहे वह बड़ा हो या छोटा शक्तिशाली हो या दुर्बल अणुअस्त्र संपन्न हो या न हो मनुष्यत्व का जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। राधाकृष्णन का विश्वास है कि आज जो समाज और नैतिकता के विरोधी तत्त्व सबल दिखाई देते हैं वे अवश्य ही अपनी घुटन में घुट कर काल के मुंह में चले जायेंगे और असत्य होने के कारण वे अधिक समय तक रह नहीं पायेंगे। असत्य कुछ ही काल के लिए हमें मोह सकता है अन्ततोगत्वा सत्य को मनुष्य पहिचान ही लेगा।

इतिहास ने अधिनायक या महापुरुष का सम्मानित स्थान उन्हें नहीं दिया है जिन्होंने विद्वेष की आग भड़का कर रक्त की नदियाँ बहाई हैं; राष्ट्रीयता जातीयता-सम्बन्धी भेद भावों की अग्नि को प्रज्वलित किया है। मैं मेरा प्रदेश मेरा देश ही मात्र जीवित रहे—इस मान्यता पर चलने वाले मानवता को खंडित ही नहीं करते अपना भी आत्मघात कर अपनी वास्तविकता का निराकरण करते हैं। मानवता की पथप्रदर्शक वे महान् आत्माएँ हैं जिन्होंने अपने देश के जीवन और विचार में असीम को अवतरित कर श्रेय की महान शक्तियों की वृद्धि की है। इस धरती में जहाँ अधिकांश प्राणी धन बल भुज के पीछे पागल मदान्ध और स्वार्थ लोलुप हो जाते हैं वहाँ उन देवदूतों ने उस परम की सत्ता प्रतिष्ठित की है जो सबमें अविकृत निरंजन एवं इष्ट है और सभी जीवन को आध्यात्मिक बनाता है। उनकी परम-निष्ठा आत्म-निरीक्षण उनका अद्भुत महान त्याग उत्कृष्ट आचरण विनम्रता सौम्यता तथा उदात्त अतिशय मनुष्यत्व

व्यक्ति का मूल्यों में विश्वास है। आध्यात्मिक आत्मा वास्तविकता के मूल्यों के स्रोत के जीवित सम्पर्क में है। चेतना मुक्त और विशुद्ध आंतरिक है। उसका हम सर्वत्र अनुभव करते हैं किन्तु उसे समझा नहीं सकते। उसे अंतर से ही जान सकते हैं और जब उसे जान लेते हैं तब बाहर कुछ नहीं रहता है। चेतना को जान लेने से मनुष्य समझ जाता है कि सम्पूर्ण के प्रति समर्पण करने से उसकी अपूर्णता पूर्णता प्राप्त कर लेगी। जीवन की सम्पूर्णता का अर्थ ही सम्पूर्णता की सेवा करना है। मानव-उन्नति उसके भीतर विश्व चेतना की अधिकाधिक सक्रियता के बोध पर ही निर्भर करती है। आत्म-विशिष्टता और सर्वनिष्ठता के दोनों तत्त्व साथ-साथ विकसित होते हैं और अंत में विशिष्टता का भाव समग्रता के भाव में स्वतः ही विलीन हो जाता है। आत्मा में क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें प्राप्त परिस्थितियों तथा आंतरिक एवं बाह्य को अपने ध्येय के अनुकूल अपने प्रयास द्वारा बदलने की प्रवृत्ति है। आत्मा का क्रियात्मक रूप ही संकल्प है। संकल्प ही स्वातन्त्र्य वास्तव में आत्मा की स्वतंत्रता है। यह आत्म-निर्धारण की क्षमता है। आत्मा के अंतर्दृश्य के कई अंशों को वातावरण के प्रभाव तथा पूर्व से प्राप्त धन बल के रूप में समझा जा सकता है। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण और चरित्र दीर्घ विकास का परिणाम है तो उसके कर्म स्वतंत्र नहीं हैं। व्यक्ति के कर्मों को एक प्रकार से भूत का अनिवार्य परिणाम कह कर हम भूल करते हैं। वंशानुगत गुण और परिवेश का प्रभाव हमारी सम्पूर्ण आत्मा को आच्छादित न कर केवल उसके स्वभाव के कुछ अंशों को ही प्रभावित करता है। आत्म-निर्धारण का अर्थ आत्मा के किसी अंश द्वारा नहीं सम्पूर्ण आत्मा द्वारा निर्धारण है। आत्मा स्वतंत्र है। स्वतंत्रता स्वभाव-आलस्य नहीं है और न कर्म की अनिवार्यता है। कर्म के सिद्धान्त पूर्ण सीमा तक उचित है। यह हमें मानव असफलता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान कर दुःख को धैर्यपूर्वक सहना तथा दुर्भाग्य के रहस्य को स्वीकार करना सिखाता है। कर्म में आत्मा एवं

उन्हें न्याय और दानशीलता की ओर ले जाती है जो आध्यात्मिकता का सार है। यह सोचना दोषयुक्त है कि दुर्भाग्य उन्हीं पर आता है जो दुष्ट हैं। हमें नहीं भूलना चाहिए कि विश्व में सम्पूर्णता है और हम एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः हम अपने ही नहीं दूसरों के कर्मों के कारण भी दुख उठाते हैं। हमें एक दूसरे के लिए दुख सहना ही होगा। मनुष्य में दुख सहने की असीम क्षमता है। असीम प्यार असीम दुख है। दुख सहना कष्ट झेलना उसकी विशेषता है जो उसकी आत्मा है। यह मानवता की आध्यात्मिक सम्पत्ति की वृद्धि है।

मनुष्य के वर्तमान जीवन की संकटावस्था मानव-चेतना के महान संकट के कारण एवं जीवन की आत्मिक पूर्णता से स्खलन के कारण है। व्यक्ति की चेतना धूमिल पड़ गयी है, वह अपने को समग्रता से विमुक्त समझता है और विमुक्ति का भ्रान्तिपूर्ण बोध ही विश्व संकट का जनक है। व्यक्ति अपने आप में अपने विशुद्ध रूप में समस्त विश्व के साथ विशेषकर, जीवित प्राणियों और मनुष्यों के साथ बन्धुता मैत्री और सहभागिता अनुभव करता है। सामाजिकता का बोध तथा मानवता की भावना प्रत्येक मनुष्य के भीतर निहित है। विश्व के किसी भी अनजाने कोने में जब वह किसी को विपत्ति में पड़ा हुआ सुनता है तो सहसा स्वयं से दुखी हो उठता है। उसका दुख-व्यथित हृदय आँसू बहाने लगता है। आज जो लोग मानवता की मूल समृद्धि के लिए विकास योजना तथा अर्थ-व्यवस्था को आवश्यक बताते हैं वे भूल जाते हैं कि यह सब पहिले आंतरिक जीवन के निर्माण के लिए आवश्यक है। बाह्य जीवन का सफल पूर्ण होना उतना अनिवार्य नहीं है जितना कि अंतर का। बुद्धिजीवी के जीवन में उसकी आंतरिक संस्कृति ही बाह्य संस्कृति में प्रवाहित होती है। जब तक मनुष्य अपने स्वार्थ लोभ और काम की वासनाओं पर विजयी नहीं होगा उसकी बाहरी विजय व्यवस्थाएँ और योजनाएँ उसकी आंतरिक बर्बरता के प्रयोग के लिए उपादान-मात्र रहेंगी। विश्व की महान् दुर्घटनाएँ—वैयक्तिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय

एवं अंतर्राष्ट्रीय—इसलिए घटित होती है कि हमें विनाशकारी और विस्फोटकारी वासनाएँ जकड़े हुए हैं।

मानव जीवन विद्या-अविद्या प्रकाश और अन्धकार की धूप-छाँह है। विद्या प्रकाश बोधि प्रज्ञा और ज्ञान है। वह चिदाकाश में चाह तथा आनन्द की क्रीड़ा है। अविद्या अन्धकार, भेद ज्ञानाभाव और दुःख है। अविद्या में पड़े जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। मैं क्या हूँ ? मेरा कर्तव्य और प्रारब्ध क्या है ? इन्हें निरर्थक प्रश्न समझ कर वह इन पर हँस देता है और भयंकर भँवर में फँस जाता है। उसे अपना भविष्य अनजाना प्रतीत होने लगता है। वह घबरा उठता है—मेरा अन्त क्या है ? मृत्यु के पश्चात् मैं कहाँ जाऊँगा ? अन्धकार सघन अन्धकार में कुम्भीपाक रौरव आदि नरकों की धारणाएँ और यातनाएँ उसका मुँह सुखा देती हैं। भविष्य-भय और मृत्यु-भय से आतंकित व्यक्ति अपने को एकाकी अनुभव करने लगता है। हर दूसरा व्यक्ति उसे शत्रुवत् लगता है। सहज सजातीय भावना तथा बंधुत्व का बोध विस्मृति के अतल गर्त में चले जाते हैं। सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होने के विपरीत वह समाज के प्रति विद्वेषात्मक भाव रखने लगता है—मैं ही सब कुछ हूँ दूसरा दूषित धोखा और दुष्टबुद्धि है वह न जाने कब मेरे बुरी सीख दे, इस प्रकार के सन्देह, दुःख और भय ने उसे आतंकित और ग्रस्त कर उसके व्यक्तित्व का विभाजन कर दिया है। उसकी सम्यक् आत्मा की अखण्डता खण्डित हो गयी है। महान् दुःख यह है कि हम अपने अज्ञान को ज्ञान समझ बैठे हैं। मिथ्या ज्ञान ही सब प्रकार के दुःखों का कारण है। हमें सच्चा ज्ञान चाहिए। सच्चे ज्ञान द्वारा ही हम आत्मा को उसका सम्यक् व्यक्तित्व प्रदान कर पाएँगे। मुक्ति का अर्थ मानव स्वभाव का पुनर्संयोजन है। भय पर विजय अथवा अभय का मर्म ही सच्चा धर्म है। यह असफलता और मृत्यु की नाशक औषधि है। सच्चे धर्म द्वारा ही हम भय से वास्तविक मुक्ति पा सकते हैं। वर्तमान धर्म शोचनीय अवस्था में है। यह भयजन्य है। यदि जिस धर्म को हम अपनाए हुए हैं वह भय

का परिणाम है तो वह चाहे और जो कुछ भी कर सकता हो जीवन का संरक्षण तथापि नहीं कर सकता। जीवन अभय है। जब कोई जीवन के सार्वभौम स्रोत के सम्पर्क में आता है तब वह शक्ति और भय से मुक्ति की भावना से भर जाता है। जब हम अपने स्वभाव के कोषों के भीतर छिपी हुई चेतना के गुप्त बीज को खोज लेते हैं और उसी के सत्य से रहते हैं तब जीवन एक विशुद्ध ज्योति हो जाता है जो अनन्त प्रकाश और आनन्द से भरपूर है। 'ब्रह्मानन्द को जानकर मनुष्य अभय हो जाता है। 'जो सर्वभूतों को आत्मवत् मानता है वह सर्वत्र एकत्व ही देखता है और उसके लिए शोक और मोह नहीं रह जाता। 'ज्ञानी उस प्रकाश की या चेतना चाहता है जिसे पाकर भय से मुक्ति मिल जाती है, जिसे जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है। 'ब्रह्मानन्द में रमने वाली आत्मा मृत्यु और एकाकीपन के भय से मुक्त है। ऐसा व्यक्ति अपने को एकाकी या असम्बद्ध नहीं सोचता। भय से मुक्ति मन की एक स्थिति या वृत्ति है न कि किसी विश्वास की स्वीकृति अथवा धार्मिक विधि का पालन है। दूसरों की आत्मा की वास्तविकता को समझना धार्मिक होना है। प्रेम के नियम का पालन उसके आदेश या इच्छित होने के कारण नहीं किया जाता किन्तु इसलिए कि पूर्ण प्रकाशित जीवन प्रेम पर ही निर्भर है। 'वह जो विश्वात्मा को जान लेता है सभी प्राणियों में एक ही तत्त्व देखता है। आत्माएँ जो अपने आप में संयोजित हैं वे अवश्य ही एक दूसरे से भी एकता-युक्त होंगी। हम दूसरों को भूलकर केवल अपने ही बारे में नहीं सोच सकते हैं। स्वार्थी व्यक्तियों की भाँति रहना सृष्टि के ध्येय को उलट देना है। आध्यात्मिक जीवन या अभय का स्वाभाविक परिणाम अहिंसा या सभी चेतन वस्तुओं के प्रति सजातीय भावना है जो अपने दयालु स्वभाव के कारण निम्नतम प्रकार के पशु-जीवन का भी आलिंगन करती है। सच्चे धर्म का चिह्न भय से मुक्ति है जो व्यक्ति के अन्दर शान्ति और सन्तुलन देह और आत्मा के बीच अनुकूलता तथा अन्य प्राणियों के प्रति अहिंसा या भावात्मक प्रेम में प्रकट होती है। अभय

स्वतंत्रता है। स्वतंत्र व्यक्ति मानसिक द्वन्द्व से मुक्त है। न उसमें क्रोध उपजता है और न उसे निराशा ही घेरती है। वह अमर है, आत्मा का सहज जीवन जीता है और सर्वत्र तटस्थ भावमात्र से विचरता है।

मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता और प्रारम्भ अपने को समझना आत्मज्ञान है। उसका प्रारम्भ शाश्वत जीवन है। राष्ट्र और समाज सम्पदा और सम्पत्ति वैयक्तिक संबंध और विरोध स्थायी नहीं हैं। वे पानी के बुलबुले हैं जन्म लेते हैं और विनाश को प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक मनुष्य को चेतना के शाश्वत मूल्यों तथा सत्य और प्रेम के लिए जीना है। मुक्त मनुष्य में एक उच्चकोटि की निष्ठा होती है, जो सच्ची आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। जीवन निःश्रेयस एवं शुभ है, और प्रत्येक को आनन्द की संभावना प्रदान करता है। व्यक्ति जैसा है वह सृष्टि की अन्तिम स्थिति का द्योतक नहीं है। वह विकास क्रम में है। उसे विष्णत्व प्राप्त करना है। आज जिस भांति वह जी रहा है उस तरह वह अधिक जीवित नहीं रह सकता। उसे अपने को बदलना होगा अन्यथा वह मिट जाएगा। उसके मिटने से भगवान् की सृष्टि का कुछ नहीं बिगड़ेगा। सृष्टि का क्रम चलता रहेगा और कोई अन्य जीव-योनि प्रस्फुटित होकर मनुष्य का स्थान ले लेगी।

वर्तमान मनुष्य आसन्न संकट में है। वह काल के मुँह में खड़ा है। इसका कारण उसका अविवाज्ञप्त घोर स्वार्थ है। हिन्दू विचारकों ने सदैव घातक स्वार्थ से मनुष्य को बचाना चाहा है। मनुष्य को चेतावनी देने के लिए उसे 'माया' कहा गया। 'रमैया की दुल्हन ने लूटा बाजार, कह कर उसने माया की भर्त्सना की है। माया से मुक्ति संकीर्ण स्वार्थ से मुक्ति है उन असत्य मूल्यों और भावनाओं के बन्धनों से मुक्ति है जो हमें शासित करते हैं। मायावाद जीवन को भ्रम नहीं कहता और न विश्व कल्याण से तटस्थ रहने का संदेश देता है। विश्व जीवन को तृणवत् त्यागा नहीं जा सकता। विश्व जीवन ही विश्वात्मा के जीवन की ओर ले जाता है। जब ऋषि-मुनि प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु, हमें

असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाओ तब वे सांसारिक जीवन को असत्य अन्धकार या मृत्यु नहीं कहते किन्तु उस भरी हुई संकीर्णता की ओर इंगित करते हैं। वे स्वार्थी व्यक्तिवाद के अन्धकार से सार्वभौम चेतना के प्रकाश असत्य से सत्य विश्व की दासता से वास्तव की स्वतंत्रता में रूपान्तरित होने की प्रार्थना करते हैं। मृत्यु से अमरता की पुकार मृतक का शवप्रकोष्ठ से उठना नहीं है यह आत्म-लीनता की मृत्यु से निस्स्वार्थ प्रेम के जीवन में परिवर्तित होना है। इसी भांति पुनर्जन्म से मुक्ति व्यक्तिवाद का अतिक्रमण कर निर्वैयक्तिक सार्वभौमवाद की प्राप्ति है। विश्वात्मा को समझना आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान है। राधाकृष्णन के अनुसार शंकर जब कहते हैं कि मुक्ति की स्थिति में व्यक्ति ब्रह्म में लीन हो जाता है तब उनका यही अर्थ है कि वह सर्वात्मभाव को प्राप्त कर लेता है, वह इस बोध से युक्त हो जाता है कि हम सब 'अमृतस्य पुत्राः' हैं।

सृष्टि के प्राणियों के बीच श्रेष्ठता का भोग करने के वरदान के साथ ही व्यक्ति पर यह प्रतिबन्ध भी है कि वह बिना सचेत प्रयास के अपना आदर्श नहीं प्राप्त कर सकता। उसकी आवश्यकताएँ प्रकृति अपने आप पूरी नहीं करती अपने वास्तविक रूप को भी वह सहजता से प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रयास त्याग और तप करना पड़ता है। उसका जीवन निरन्तर आत्म अतिक्रमण का प्रयास है इसी का मोहान्धकार उसे भ्रष्ट कर उसके ज्ञान को ढक देता है। इसकी भूल को सुधारने का उसे स्वयं प्रयास करना होता है। समस्त जीवन विराट् समुद्र की भांति है जो मुमुक्षु हैं वे इसका मन्थन करके अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं। शुद्ध बुद्धि एवं आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से ही स्थिर उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को नैतिक साधनाओं द्वारा सर्वाधिकता से ऊपर उठना होता है। पवित्र होने के लिए एवं आत्मा को अधीनताओं से मुक्त करने के लिए यम-नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान-समाधि आदि आवश्यक हैं। यह सब योग ही

है। योग अपने व्यापक अर्थ में मानव स्वभाव के विभिन्न पक्षों—देह मन चेतना—तथा वैयक्तिक और सामाजिक वस्तुगत और आत्मगत जीवन मे संतुलन स्थापित करता है। यह सांत और अनंत में तादात्म्य के लिए *प्रारम्भिक और अंतिम सीढ़ी है।* प्रार्थना जैसे ध्यान दर्शन कला साहित्य भी आंतरिक सत् के परिवर्तन और विशुद्धीकरण में सहायक होकर उसे विश्व के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रार्थना और जैसे आत्म-शुद्धि क बोधक है न कि याचनाकरण के। सच्चा जैसे अपने अहं का त्याग है। प्रार्थना करना अंतःस्थित निःसीम में प्रवेश कर चेतना के आरोहण द्वारा अपनी अंतर्वास्तविकता का अन्वेषण करना है। ध्यान आत्म-आविष्कार का माध्यम है। इसके द्वारा हम अपने मानस को अंतर्मुखी बनाकर आत्मा के सृजनशील केन्द्र से सम्पर्क स्थापित करते हैं। आत्म-आविष्कार वास्तविक आत्मा का ज्ञान है। यह स्वार्थपूर्ण संकल्प को निर्वैयक्तिक दैव-संकल्प में बदल देता है। कोई भी तब तक सत्य को नहीं जान सकता जब तक कि वह सत्य न हो जाए एवं उस निरपेक्ष आंतरिक विपुलता को न पा ले जो आत्म-स्वामित्व और आत्म-त्याग की अपेक्षा रखती है। यह सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं है, हमें शाश्वत का दर्शन करना ही है। शाश्वत के अज्ञेय और अगम्य होने पर भी उसका आत्म-संयम और सम्यक् अंतर्दृष्टि द्वारा प्रत्यक्षीकरण संभव है। व्यक्ति का विकास निर्वैयक्तीकरण की विस्तीर्णता तथा आत्मा का व्यापक आत्मा से एकत्व तथा विश्वात्मा से तादात्म्य है। आत्म-पूर्णता आत्म-साक्षात्कार और आत्म ज्ञान है। यही व्यक्ति का आरम्भ उसके तथा विश्व के विकास का वांछित ध्येय है। विश्व का ध्येय मानवता की पूर्णता ही है। अनुभव का विश्लेषण हमें क्रमशः जड़ प्राण मन और बुद्धि के जगत् से उस आत्मा के बोध में ले जाता है जो बुद्धि की व्याख्याओं से परे पूर्णतः परात्पर है और अपने को व्यक्ति, विश्व परम आत्मा एवं सभी के रूप मे व्यक्त करता है। विश्व का सत्य भौतिक की राशि गति-विज्ञान के सिद्धान्त जैव संयोजन मनोवैज्ञानिक अनेक वाद या नैतिक व्यभिचार नहीं है यह आध्यात्मिक संगठन है।

'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। यदि पृथ्वी अपनी सभी संतानों को धूप वायु और जल समान रूप से दे सकती है तो चैतन्यात्मक ऐक्य में जीने वाली मानवता अपने सजातीयों को वस्त्र भोजन और निवास की सुविधा भी उसी प्रकार प्रदान कर सकती है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक उन्नति आवश्यक है। किन्तु उसकी सफलता बिना नैतिक उन्नति के सम्भव नहीं है। इस तथ्य को देश का संविधान नहीं सुलझा सकता। यह आंतरिक और बाह्य मूल्य एवं मानदण्ड का प्रश्न तथा धार्मिक ज्ञान का विषय है। बिना धार्मिक ज्ञान के हम मानव जाति की अन्तर्निहित एकता को समझ कर स्वस्थ सामाजिकता की स्थापना नहीं कर सकते। इसी के सहारे हम भूत और वर्तमान के शिखर से ऊपर उठ कर भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं। जिस भाँति वसंत ऋतु में वृक्ष पुरानी पत्तियों को त्याग देते हैं उसी भाँति हम चैतन्यात्मक प्रकाश में मृत कुत्सित और दूषित विचारों का परित्याग कर सकते हैं। उसके लिए उचित शिक्षा तथा शिक्षा की गहनता न कि व्यापकता अनिवार्य है। यदि हम सदाचार के मापदण्ड को अपना कर प्रज्ञा तथा मनुष्यत्व का जीवन व्यतीत करना सीख लें तो हम अपना तथा मानवता का संरक्षण कर सकते हैं। सम्यक मानव बोध की कमी के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति खोखली और चिंतनीय हो गयी है। अणुसम्पन्न देशों के बीच शीत युद्ध चल रहा है। विज्ञान के क्षेत्र में ध्वंसात्मक प्रतियोगिता है विशेषकर अन्तरिक्ष उद्यम के क्षेत्र में। अन्तरिक्ष सम्बन्धी खोजों एवं अनुसन्धानों से हमें और भी विनम्र हो जाना चाहिए कि हम इस विशाल ब्रह्मांड के एक बहुत छोटे अंश के निवासी हैं जिसे हम अपना विश्व कहते हैं। एक दूसरे को समझने तथा स्नायविक युद्ध का अन्त कर देने के लिए हमें सहिष्णु तथा निरन्तर प्रयास द्वारा भ्रान्ति के तमस तथा संदेह के बादलों को दूर हटाना चाहिए। कठोर शब्द तथा कटु लांछन चाहे कितने ही समयोचित क्यों न हो स्थिति को सुधारते नहीं हैं। किसी भी देश राष्ट्र तथा जाति का व्यक्ति क्यों न हो उसके हृदय में सद् संकल्प तथा मित्रता

के लिए स्थान है। बिगड़ी बात बनाने के लिए हमें इसी मन्त्र को काम में लाना होगा। यदि व्यक्ति उच्चाभिलाषी तथा सम्मानशील हो विश्व के लिये महान और व्यापक दृष्टिकोण रखता हो तो वह इतिहास को मोड़ सकता है। राधाकृष्णन ऐसी महान् आत्माओं का अभिवादन करते हैं। उनका कहना है कि उज्ज्वल भविष्य के निर्माता तपःपूत व्यक्ति ही हो सकते हैं न कि कूटनीतिज्ञ।

प्रत्येक व्यक्ति एक ऐतिहासिक सम्भावना है। हम जो कुछ आज और यहाँ है वह उसका परिणाम है जो हम थे जो हमने सोचा था अनुभव और संकल्प किया था जो हमने अपने वैयक्तिक इतिहास के प्रारम्भिक कालों में किया था। मानव जीवन को अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए रक्त और आंसुओं के समुद्र को तैर कर आगे बढ़ना होता है। मानव स्तर पर विकास क्रम स्वैच्छिक है निर्धारित नहीं। इतिहास के हम दर्शक मात्र नहीं हैं, सहगामी भी हैं। अपने भविष्य को निर्धारित करने के लिए हम बहुत कुछ कर सकते हैं। किन्तु उसके लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता है। यदि हम आज अपनी सीमित और सापेक्ष उन्नति को खोजेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। बिना विश्व-कल्याण के आत्म कल्याण सम्भव नहीं है। विकास को गति देने के लिए हमें अपनी अहं की सीमा का अतिक्रमण कर दूसरों के लिए उन्मुख होना होगा उन्हें भी आनन्द और उल्लास देना होगा। हमारा भविष्य हमारे कर्मों का परिणाम है। अपने संकल्पबलों द्वारा हम विश्व प्रगति को आगे बढ़ाना प्रशस्त कर सकते हैं। इतिहास घटनाओं का परिच्छेद नहीं है और न निर्धारित प्रवाह ही है। वह परम महत्त्व का एक सविकास भर है। इतिहास का अर्थ सभी की चेतना के साम्य का नागरिक बनाना है। वह बतलाता है कि भविष्य अनुज्ज्वल है वह अनन्त समृद्धि और आध्यात्मिकता से वंचित है। मानवीय और आध्यात्मिक स्तर पर उतना ही अन्तराल है जितना कि मानव और पशु स्तर पर। बुद्धि से चेतना में इस विद् रूपान्तरण के नाटक का अन्त मनुष्य के पुत्र को भगवान् का पुत्र बनाना

है। यही इतिहास का लक्ष्य है। आध्यात्मिकता मानव जीवन का निषेध नहीं परिपूर्णता है। आध्यात्मिकता जो कि विकास का लक्ष्य है अपने अन्दर सभी स्तरों का समावेश करती है। यह उनसे असम्बद्ध नहीं है जिनको कि इसने अतिक्रमण कर अपने में ग्रहण किया है। सभी चेतना के व्यापार एवं उसके अंश हैं। किन्तु अंशों को सम्पूर्णता से श्रेष्ठ नहीं कह सकते हैं। समस्त जीवन की परम मान्यता चेतना तथा यह विश्वास है कि हमारे अन्तर में विश्व का निवास है। जीवन आनन्दमय है और इसका प्रमाण स्वयं जीवन ही है। यदि अपने हृदय के किसी अनजाने कोने में एक क्षण के लिए भी यह निश्चय हो जाये कि ईश्वर नहीं है तो हम जी नहीं सकेंगे। चेतना एवं ईश्वर हमारा सहारा विश्वास और शरण है। हम ईश्वर के पुत्र हैं हमें उसे जानकर उसी का जीवन जीना होगा। विश्व को हमें उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करना होगा। उसके किसी भी भाग का हम निराकरण नहीं कर सकते हैं। विश्व का त्याग भी हमें इसी अर्थ में करना होगा कि समस्त सृष्टि की एकता के बोध को प्राप्त कर हम पुनः विश्व को उसके सत्य रूप में ग्रहण कर सकें। धार्मिक मनुष्य सभी कुछ स्वीकार करता है किन्तु स्वीकृत करने के पूर्व उसका उन्नयन कर देता है। वह व्यक्ति जो चेतना का जीवन जीता है असम्बद्ध इकाई या आत्म केंद्रित स्वार्थी व्यक्तित्व नहीं है किन्तु विश्व चेतना का माध्यम है। अपने को जानना और अपने प्रति सच्चा रहना शुभ जीवन का सार है। आत्म-ज्ञान ही विश्व को वह प्रेरणा प्रदान कर सकता है जिसे कि वह खो चुका है। हमें आत्मज्ञ बनना और ज्ञान एवं मनन के अनुरूप कर्म करना चाहिए। मनुष्य का अभीप्सित लक्ष्य भागवत सम्पर्क ही है। जब सभी व्यक्ति दिव्य अनुभूति से सम्पन्न हो जायेंगे तब विश्व में सच्ची मानवता का प्रादुर्भाव होगा। यह सत्य शिव और सुन्दर का संगम बन जायगा। दरिद्रता अभाव दुःख ईर्ष्या निराशा सन्देह आदि के समूह चैतन्य-ज्योति के स्पर्श से निष्प्राण हो जायेंगे।

वेदान्त को जीवित रखना है तो उसे वैज्ञानिक युग से संबद्ध करना होगा। प्राचीन की अमरता उसकी वर्तमान को प्रेरणा देने की शक्ति में है। राधाकृष्णन ने वेदान्त के मूलतत्त्वों को वैज्ञानिक संदर्भ में जिस भाँति समझाया है उसके बारे में रूढ़िवादी वेदान्ती चाहे कुछ भी कहें, पर यह निर्विवाद है कि भारतीय सांस्कृतिक जागरण के परिणामस्वरूप पश्चिम को उत्तर देने की जो शृंखला ब्रह्मसमाज थियोसाफिस्टों दयानंद, विवेकानन्द तिलक आदि से प्रारम्भ हुई थी उसके मूर्धन्य शिरोमणि राधाकृष्णन ही हैं। राधाकृष्णन ने अपने उत्तरों द्वारा भारत के अतीत की महत्ता और व्यापकता को मूर्तिमान कर दिया है। उन्होंने न केवल भारत के अतीत और वर्तमान को एकसूत्रता में बाँध दिया बल्कि पूर्व और पश्चिम को भी समन्वित करने का यथार्थ प्रयत्न किया है। दर्शन सम्पूर्ण सत्य है। सत्य विश्व की सम्पत्ति है न कि उसके किसी भाग की। पूर्व और पश्चिम का द्वैत दो विचारधाराओं या भावों का द्वैत है—एक शारीरिक सुख का पोषक है तो दूसरा आत्मिक आनन्द का। किन्तु शरीर और आत्मा में परम भेद संभव नहीं है। वह एक ही सत्ता में निवास करते हैं एवं एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का समन्वय अनिवार्य है और यह कार्य एक सम्पूर्ण दर्शन अथवा विश्वदर्शन द्वारा ही संपादित हो सकता है।

विश्वदर्शन का मूलाधार धर्म धार्मिक चेतना या अध्यात्म है। वही धर्म मानव प्रगति में सहायक हो सकता है जो बाह्याडंबरों के त्याग द्वारा आंतरिक चेतना हृदय की पवित्रता और व्यापकता को अपनाता है। राधाकृष्णन इस दृष्टि से योरोपीय और एशियाई संस्कृति का मूल्य मूल्यांकन करते हैं। वह विश्व के समस्त धर्मों दर्शनों संस्कृतियों विज्ञान और कला एवं मानव-स्वभाव और मानव-मूल्यों का निर्भीक और निष्पक्ष परीक्षण करते हैं। भाषा पर असाधारण अधिकार, अभिव्यक्ति की अद्वितीय क्षमता एवं शैली जीवन-समस्याओं का विधात्मक दर्शन तथा पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का बहुत व्यापक अध्ययन और उनमें पूर्ण

प्रवीणता तथा तुलनात्मक विवेचन द्वारा वे भारतीय अध्यात्म की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। उन्होंने दर्शन को एक नया मोड़ दिया है। दर्शन को पूर्व या पश्चिम का कहना भ्रान्तिपूर्ण है। विश्व एक है उसका दर्शन एक है। उसे दो भागों में विभाजित कैसे किया जा सकता है? जिस भाँति एक ही परिवार के प्राणी अपनी योग्यतानुसार काम बाँट लेते हैं और उत्पादन का समान भाव से उपभोग करते हैं उसी भाँति पश्चिमी विश्व के प्रत्यक्ष वैज्ञानिक ज्ञान और पूर्वी विश्व की आध्यात्मिक अनुभूतियों का भी सभी को समान रूप से भोग करना चाहिए। अपने आप में दोनों अर्ध-सत्य हैं यद्यपि आध्यात्मिक भौतिक से श्रेष्ठ है। चेतनावाद और जड़वाद एक ही तत्त्व की दो निम्न और श्रेष्ठ स्थितियाँ हैं। इनका समुचित समन्वय ही उचित जीवन है।

आज समस्त जीवन का पुनर्निर्माण आवश्यक है। पूर्व और पश्चिम दोनों ही अर्ध-सत्य अपनाए हुए हैं और ये अर्ध-सत्य अपनी एकांगी चरमता में घातक हो गए हैं। इनकी एकांगिता मानव जीवन को दुःख रूप कर रही है और उसे दुःख ने यह अनुभव करा दिया है कि सम्पूर्ण विश्व एक ही है। किन्तु एकता के मूल सूत्र से अभी हम पूर्ण परिचित नहीं हो पाए हैं। विश्व जो कि अब अपने को एक देह समझने लगा है अपनी आत्मा के लिए भी विचारशील हो गया है। पूर्व और पश्चिम अपने विचारों के आदान-प्रदान द्वारा उस व्यापक सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं जिसके प्रति उपेक्षा का भाव मानव जीवन के पतन का कारण है। योरोपीय मानवतावाद और एशियाई धर्म का समन्वय एक अनिवार्य सत्य है। यह समन्वय उस विश्वदर्शन को जन्म देगा जो इन दोनों से अधिक सत्य और जीवन अधिक आध्यात्मिक और नैतिक बल-युक्त होगा जिसमें अपने को मानव जाति के भीतर प्रतिष्ठित करने तथा उसे सत्य की ओर ले जाने की अपार शक्ति होगी। वह मनुष्य को आध्यात्मिक दृष्टि से सबल बनाएगा। उसमें मानव जीवन की सुरक्षा और विकास के लिए चेतना को प्रमुखता देनी ही होगी। बुद्धि मानवतावाद विज्ञान और

मनुष्य को आध्यात्मिक प्रकाश में समझना होगा । क्योंकि सच्चा परम चेतना ही है । चेतना को भूल कर बुद्धि को श्रेष्ठता देने का परिणाम स्वतः स्पष्ट है । मनुष्य ने प्रतिमानव बन कर दानवाकार रूप ग्रहण कर लिया है । उसने नर-भक्षक बन कर दो विश्व-युद्धों को जन्म दे दिया है । ध्वंसात्मक विज्ञान कुटिल राजनीति और अवसरवादी धर्म का विश्व अभिशाप बन गया है । मनुष्य का चेतना की बृहत् छाया में संवर्धन करना ही राधाकृष्णन के विश्वदर्शन का लक्ष्य है । मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को समन्वित करने के लिए, पूर्व और पश्चिम में एकता की पताका फहराने के लिए एवं विश्व जीवन में शांति स्थापित करने के लिए हमें पूर्व के उस अध्यात्म की शरण लेनी ही होगी जो सभी प्रकार के विरोधों पक्षपातियों प्रतिबंधों एवं सभी प्रकार की कटुता और द्वेषों से मुक्त है । राधाकृष्णन चेतना की दीपशिखा प्रज्वलित करते हैं । वे पूर्वी अध्यात्म की श्रेष्ठता इसलिए स्थापित नहीं करते कि वे स्वयं पूर्व के हैं किन्तु इसलिए कि वे सत्य की पुकार की उपेक्षा करने में असमर्थ हैं । जो एक स्पष्ट और जीवित सत्य है उससे आँख मूँद लेना दार्शनिक के लिए असम्भव है । चेतना का सत्य यद्यपि मूलतः पूर्व की धरोहर है किन्तु वही एक ऐसा व्यापक सत्य है जिसके निश्छल आँचल में माँ पृथ्वी के दोनों ही बच्चे—पूर्व और पश्चिम—एकता एवं निश्चिन्तता के साथ सुख की साँस ले सकते हैं । चेतना का सत्य हमें बताता है कि हम चाहे किसी देश जाति या धर्म के हों हम पहिले मनुष्य हैं तब कुछ और । सभी मनुष्य मनुष्य हैं । उनकी शारीरिक और आत्मिक आवश्यकताएँ समान हैं । इसी सत्य की ओर इंगित करते हुए दार्शनिकों ने कहा है कि मानवता एक व्यक्ति के समान है जसे अपनी सम्पूर्णता में विकसित होकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना है ।

पूर्वी अध्यात्म का जयघोष करने वाले राधाकृष्णन हिन्दुत्व को आक्रान्त करने वाली उसकी सीमाओं के प्रति अबोध नहीं हैं । पारमार्थिक और व्यावहारिक जगत् के द्वैत ने हिन्दुत्व को जिस उदासीनता से भर

सकता है। मनुष्य में इनसे महत्व कुछ और भी है, जो उसका आंतरिक जीवन या चेतना का जीवन है जिससे ये तीनों अपना अस्तित्व पाते हैं, जो इन्हें अर्थ प्रदान करता है और जिसके संदर्भ में ही इन्हें समझ कर इनकी व्याख्या की जा सकती है। यह कहना असत्य होगा कि पाश्चात्य सभ्यता चेतना के सत्य से अछूती रही है। प्लेटोनिक और नव्य-प्लेटोनिक दर्शन पूर्व के अध्यात्म से अप्रभावित नहीं रहा है। पर पाश्चात्य विचारक जिस दर्शन से आज तक अत्यधिक प्रभावित रहे हैं उसका प्रमुख स्वर अध्यात्म नहीं है। अर्वाचीन संशयवादी पाश्चात्य दार्शनिक ने तो नव्य-प्लेटोवाद को रहस्यवादी और अंधविश्वासयुक्त कह कर उसकी उपेक्षा ही की है। राधाकृष्णन मानते हैं कि पाश्चात्य परम्परा में तीन धाराएँ मिलती हैं : १—ग्रीको-रोमन २—हीब्रू और ३—भारतीय धारा। बुद्धिवाद, मानववाद और अधिकारवाद यदि प्रथम धारा की विरासत है तो नैतिक आदर्शवाद, सगुण ईश्वर की भक्ति और परलोक की धारणा दूसरी विचारधारा की। भारतीय विचारधारा के परिणामस्वरूप *सर्वान्तर्यामी ईश्वर का बोध तथा सर्वोच्च सार्वभौम चेतना से मिलन एवं* ऐक्य का आनन्द मिलता है। किन्तु अब उसमें केवल बौद्धिक और मानववादी तत्त्व ही जीवित रह गए हैं अन्य प्रभाव विलुप्त हो गए हैं। यह समाज को चेतना और मानस के उच्च मानववादी आदर्शों का त्याग कर केवल प्राण और देह, भौतिक और आर्थिक अस्तित्व तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक निपुणता में ही लगभग पूर्णतः लीन है, यह सभी अर्थों में सुसम्पन्न नहीं है। सभ्यता निम्न से उच्चतम तत्त्वों के स्वरसंगतिपूर्ण विकास की सूचक है। जीवन की व्यापकता विभिन्न तत्त्वों की अपेक्षा रखती है। इन तत्त्वों को अब चेतना ही प्रदान करती है। उसी के संदर्भ में वे अर्थान्वित होकर एवं समर्थन प्राप्त कर जीवन-विकास में सहायक हो सकते हैं। चेतना-शून्य अनेक 'वाद' आज जीवन प्रांगण में निरर्थक कोलाहल मचा कर अपने शौर्य शक्ति और मादकता का डंका पीट रहे हैं। प्रत्येक 'वाद' का दावा है कि वही मनुष्य जीवन का एकमात्र सच्चा

प्रतिनिधि है। किन्तु उसका प्रतिनिधित्व जीवन की प्रगति करने के बदले उसके मार्ग को अवरुद्ध कर रहा है। इस अवरोध विघ्न बनता संघर्ष विरोध और शक्ति-भावना के मूल में अध्यात्म का अज्ञान है। राधाकृष्णन सिद्ध करते हैं कि मानव-जीवन तब तक उन्नति नहीं कर पाएगा जब तक कि हम उसके मूल तत्व अध्यात्म को पहिचान न सकें। वे पश्चिम से पूर्व के उस अध्यात्म को पुनः ग्रहण करने के लिए कहते हैं जिसे उसने कालक्रम में विस्मृति के गर्त में डाल दिया है। पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विशेषताएँ मानव कल्याण के लिए तब तक सृजनशील नहीं हो पाएंगी जब तक कि हम मनुष्य को स्वतन्त्र चेतना के रूप में—न कि केवल वैज्ञानिक अनुसन्धान के रूप में—समझने का प्रयास नहीं करेंगे। पूर्व ही इस दिशा में पश्चिम का सहायक हो सकता है।

पूर्व अपनी वर्तमान स्थिति में स्वस्थ एवं सुखी नहीं है। उसे निष्क्रियता पूर्वग्रहों और असामाजिक तत्वों ने जकड़ रखा है। विश्व को अध्यात्म का सन्देश देने के पूर्व उसे कालक्रम में जमी हुई काई से अपने को मुक्त कर यथार्थवादी सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाना होगा। गरीबी बीमारी दुःख दरिद्रता के प्रति उदासीन होना अध्यात्म नहीं है। वह देश जहाँ मानव की दशा पशु से भी बदतर है आध्यात्मवादी होने का गर्व नहीं कर सकता। हमें अपने आलस्य से ऊपर उठ कर सामाजिक चेतना को जाग्रत् करना है। अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित तथा सुचारु बनाना है। वह जो समस्त विश्व को आत्मवत देखता है सामाजिक दायित्व से विमुख नहीं हो सकता है। हम स्वयं अपने भ्रष्ट सामाजिक विधान और धार्मिक अराजकता के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं। हमें समाज का चेतना के सत्य के अनुरूप पुनर्गठन करना होगा। भारत उस आंतरिक विरोधिता और विनाश से ग्रस्त है जो आलस्य प्रमाद, सामाजिक बोध का अभाव तथा व्यक्तियों की वासना का परिणाम है। उसके आदर्श कितने ही उदात्त और विचार कितने ही श्रेष्ठ हों किन्तु उनमें प्रेरणा शक्ति का अभाव स्पष्ट है। उनके विचार जनसामान्य तक नहीं पहुँच पाए हैं इसलिए जन-

मण का सम्ब भावों से स्वामन हो गया है। भारत की चेतना के सत्य के अनुरूप अपने जीवन को ढालना है तत्पश्चात् ही वह विश्व का मार्ग निर्देशन कर सकेगा। वैज्ञानिक सत्य से युक्त अध्यात्म ही विश्व की वह भाषा है जो उसे वस्तु-विनाश से बचा सकती है। जब चेतना का जीवन मनुष्य के जीवन को रूपान्तरित और देदीप्यमान कर देगा तब विश्व का वैयक्तिक राष्ट्रीय और सामाजिक तनाव दूर हो सकेगा। मात्र बाह्य भाव रूप से एवं निर्धनों के लिए निवास बनाने रुग्णों के लिए चिकित्सालय खुलवाने कुत्तों को पुत्रवत् प्यार करने सन्धिपत्रों पर हस्ताक्षर करने और जीवन-संगिनी को अपने स्नेह का आश्वासन देने से किसी का भी कल्याण संभव नहीं हो सकता। जब तक कि शुभ की प्रेरणा आंतरिक न हो और सभी के लिए सहज स्नेह अथवा आत्मवत् व्यवहार न हो विश्व एक पग भी उन्नति नहीं कर सकता और न शान्ति ही पा सकता है। चेतना का बोध 'आत्मानं प्रतिजानेति' का बोध तथा प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता का बोध है। यह प्रत्येक राष्ट्र व्यक्ति, धर्म और मत को विकसित होने का अवसर देता है। भगवान् का राज्य वैविध्य पूर्ण एकता का राज्य है।

हिन्दुत्व में सत्यात्मक भावशक्ति तथा परिस्थिति-विशेष की प्रत्येक चुनौती का सामना करने की क्षमता है। अनेक विपदाएँ पड़ने पर भी भारत की अध्यात्म की ज्योति अबाध है। वर्तमान संकट हिन्दुत्व के मूल गत सिद्धांत की अधिक जटिल और गतिशील सामाजिक विधान की आवश्यकतानुसार, पुनर्व्याख्या की माँग है। राधाकृष्णन हिन्दुत्व के मूलतत्त्वों को सभी प्रकार के आक्षेपों से मुक्त कर उनके अधिकारों का स्पष्टीकरण करते हैं। मूलतत्त्वों के अन्दर कोई दोष नहीं है। वे स्वस्थ हैं और उनमें मार्गदर्शन की क्षमता है। उन्हीं की उचित व्याख्या और ज्ञान न केवल भारतवर्ष की वरन् सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करेगा। उनमें पूर्व और पश्चिम का एकता और प्रेम द्वारा समन्वय तथा पारस्परिक आदान-प्रदान त्याग और दया का संदेश है। यही विश्व के समस्त

रोगों का उपचार है। उन्हें ही राधाकृष्णन अपने विश्वदर्शन का मूल सत्य मानते हैं। अपने विश्वदर्शन के नाते वे इस युग में पूर्व-पश्चिम के मध्यस्थ एवं सम्यक अधिकारी हैं। वह पूर्व और पश्चिम की विद्वेषात्मक कल्पना में स्नेह के बीज बोने के आशावादी हैं। विश्वदर्शन चेतना का दर्शन है। चेतना विश्वव्यापी तथा सार्वभौम है। चेतना का दर्शन मनुष्यों की सत्तात्मक एकता एवं पूर्व और पश्चिम के समन्वय का दर्शन है। राधाकृष्णन ने चेतना की आधारशिला पर पूर्व और पश्चिम के ऐक्य की अनिवार्यता को इतने स्पष्ट, शक्तिशाली और प्रभावशाली ढंग से सिद्ध किया है जितना कि अन्य कोई विचारक अभी तक नहीं कर पाया था। निःसंदेह विश्वदर्शन एवं विश्व बाद की चेतना प्राचीन है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों और औपनिषदिक द्रष्टाओं ने इसको मान्यता दी थी। मध्ययुगीन और समसामयिक विचारकों ने भी इसे अभिव्यक्ति दी है। यदि यह मान लें कि राधाकृष्णन ने यह प्रकाश शायद मैं प्राप्त किया तथा वर्तमान विश्व-परिस्थितियों से ही उनके विचारों को प्रेरणा मिली है, तब भी इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रथम बार एक सम्यक दर्शन के रूप में विश्वदर्शन का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन करके तथा उसे गहराई का आधार देकर प्रमाणित करने का गुरु भार राधाकृष्णन ने ही उठाया। युग प्रबुद्ध द्रष्टा की भाँति उन्होंने अपने युग सत्य को समझ कर उसे वाणी दी है एवं उसका प्रचार किया है। उनका कहना है कि विश्व-विधान इतना मार्मिक और बौद्धिक शक्तिपूर्ण है कि विश्वदर्शन उसका अनिवार्य परिणाम है। विश्वदर्शन को न समझ सकने एवं उसे चरितार्थ न कर सकने के कारण ही मानवता आज दुःख में ग्रसित है। विश्व जीवन के विविध पक्षों का परीक्षण कर के उसके रोगों के लिए विश्वदर्शन को ही रामबाण और संजीवनी औषधि प्रमाणित करते हैं। विश्वदर्शन को ही वे मानवों के ऐक्य और कल्याण का एकमात्र ध्येय बताते हैं। विश्व की एकता के लिए ही उन्होंने अपने विचारक का जीवन अर्पित किया है। वे विश्व जीवन को आनन्दमय बनाने के आशावादी हैं। विश्वदर्शन की स्थापना ही उनका लक्ष्य है। एक

विश्व की धारणा सह-अस्तित्व और सह-जीवन के आदर्श एवं वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धांत को नवीन युग के अनुरूप साकार रूप देने का श्रेय राधाकृष्णन को ही होगा।

हिन्दू संस्कृति तथा परम्परा प्राचीन एवं आदिकालीन होने के साथ ही व्यापक और सहिष्णु है। उसके सम्पूर्ण उद्यान में समय-समय पर अनेक रंग-बिरंगे कुसुम प्रस्फुटित हुए हैं जो सुन्दर और शुभ होने के साथ ही अपनी सुवास से संसार के वातावरण को सुरभित कर जन-जीवन को उसका वैभव दे गए हैं। अन्य अनेक संस्कृतियों के मत पानी के बुलबुले की भाँति पैदा होते ही मिट गए एवं समाज को प्रभावित नहीं कर पाए। हिन्दुत्व कालक्रम में अनेक स्थितियों और परिवर्तनों से गुजरा है। काल स्वभावानुसार दार्शनिकों और धर्मप्रेमियों ने उसमें काट-छाँट कर, उसमें परिवर्तन किए हैं तथा उसको संवर्धित किया है। वेद के अपरिष्कृत विधि-विधान-पूर्ण धर्म का उपनिषदों के अध्यात्मवाद ने संवर्धन किया। वेद और उपनिषदों के विचारों की व्यवस्थित परिपूर्णता के रूप में वेदान्त ने जन्म लिया। शंकर, रामानुज माध्व और वल्लभ का दर्शन सूर, तुलसी कबीर, चैतन्य नानक रामानंद आदि द्वारा जनमानस में छा गया। रामकृष्ण और श्री अरविन्द ने दर्शन के साधना-पक्ष का प्रतिनिधित्व किया तो विवेकानन्द और राधाकृष्णन ने प्रचार पक्ष का। राधाकृष्णन भारतीय संस्कृति की देन हैं। उनकी सांस्कृतिक थाती का वैज्ञानिक तार्किक और बौद्धिक आधार पाश्चात्य दर्शन वैज्ञानिक संस्कृति तथा तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त हुआ। अपने युग वातावरण के प्रति वे सचेत हुए। उनका ज्ञान पूर्ण श्रद्धा में परिणत हो चुका है। वे पूर्ण उत्साह से उसकी सुरक्षा और संवर्धन की ओर झुके हैं। राधाकृष्णन ने अपनी अप्रतिम भाषण शक्ति, विचारों की सुस्पष्टता सूक्ष्म दृष्टि और अभिव्यक्ति की विश्लेषणात्मक शैली तथा सक्षम व्याख्या द्वारा पाश्चात्य विचारकों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि उनके अंग्रेजी में दिए हुए व्याख्यान और लिखित ग्रन्थ फ्रेंच जर्मन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनूदित हो गए हैं तथा

हो रहे हैं। पाश्चात्य मानस मुक्त हृदय से उनके कथनों को ग्रहण कर उन पर चिंतन करने लगा है। विश्व के मूर्धन्य विद्वानों ने उन पर अनेक लेख लिखे हैं। उनकी षष्टि-पूर्ति के अवसर पर उन्हें विभिन्न विश्व मनीषियों के लेखों का अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किया गया है। उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालते हुए 'राधाकृष्णन का दर्शन' नाम से भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है और भी अनेक पुस्तकों के अतिरिक्त सी ई एम जोड ने अपनी सम्पूर्ण पुस्तक 'पूर्व का प्रत्याकरण' में राधाकृष्णन के पूर्व और पश्चिम को समन्वित करने के प्रयास की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वे उन्हें पूर्व-पश्चिम का सम्पर्क अधिकारी मानते हैं तथा उनकी भाषा की प्रांजलता तथा अभिव्यक्ति की अद्वितीयता के सम्मुख प्रणत हैं। राधाकृष्णन का मुख्य लक्ष्य पाश्चात्य मानस को भारत की दार्शनिक परम्परा और गौरव से अवगत कराना है। अपनी प्रज्ञा द्वारा वह वस्तुतः भारतीय दर्शन की महत्ता की प्रशंसा करवा लेते हैं। वह अपने व्यक्तित्व की स्तुति के व्याज भारत की स्तुति कराने में सक्षम हुए हैं। हिन्दुत्व में निहित आध्यात्मिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक और दार्शनिक उपलब्धियों का सुस्पष्ट वैज्ञानिक विश्लेषण कर वह विरोधी विद्वानों को मोह लेते हैं। पाश्चात्य विचारकों के निकट उनके दृष्टिकोण से भारतीय मानस व सफल व्याख्याकार के रूप में राधाकृष्णन चिरस्मरणीय रहेंगे। उन्होंने भारतीय दृष्टि का पश्चिम को वह प्रदान दिया जिसकी उसे आवश्यकता थी। एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव और चिन्तन की वनिता को उसकी अनुकूलता से सवर्धना बौद्धिक ज्ञान के लिए कठिन समस्या होती है। राधाकृष्णन के समान व्यक्तित्व के माध्यम से ही वे कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। राधाकृष्णन को पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का ज्ञान है। उन्होंने दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं को आत्मसात किया है। किसी एक को दूसरे के लिए उसी की विचार-पद्धति के अनुरूप कर उसे दूसरे के लिए बोधगम्य बना देते हैं। विभिन्नता के हेतु, जिसके लिए भारतीय दर्शन आज-आकाश-कुसुम था उन्होंने कहा था। भारत और

बोध पर कि हम क्या बन रहे हैं और किधर जा रहे हैं। मनुष्य अ
अपनी किशोरावस्था में है। उसे अपना विकास कर उच्च एकीकरण प्रा
करना है और दैव मानव से युक्त स्त्री-पुरुषों को उत्पन्न करना है
जीवन मे आज जिसका अभाव है वह है संयोजन और पूर्णता व
समन्वित चेतना है। हमें अपने जीवन के विभिन्न तत्वों को समुचित क
आध्यात्मिक ध्येय के योग्य बनाना है। हमे चेतना को जानना उसे प्राप्
करना और वही हो जाना है। यही मनुष्य में मनुष्यत्व प्रतिष्ठित करना
तथा आन्तरिक जीवन की श्रेष्ठता को अपनाना है। यह अस्पष्ट अव्यव
स्थित मानसिकता को विशुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश में बदलना तथा रोग
ग्रस्त शरीर मे दिव्य जीवन का संचार करना है। राधाकृष्णन का दर्शन
भयग्रस्त विश्व-मानस का ध्यान आकर्षित करता है। अपने विश्वदर्शन
मे वह पूर्व और पश्चिम के उत्कृष्ट तत्वों का समावेश कर देते हैं। वह
महान् तत्ववेत्ता और ज्ञानी हैं। उनका ज्ञान नीरस सिद्धान्तों का ज्ञान
नहीं है। वह मानव चेतना का बोध है। वह हमसे कहता है अपने को
समझो दूसरो को समझो तथा दूसरों को अपनी ही भांति प्यार करो।
राधाकृष्णन उस विश्वदर्शन के प्रणेता है जो मृगतृष्णा नही है। उनका
दर्शन वास्तविकता मानवता और प्रेम का प्रकाश एवं आध्यात्मिक बोध
है। वे प्राणी मात्र को जाग्रत् रहने का सन्देश देकर आन्तरिक आचरण
का महत्व समझाते हैं। बाह्य शान्ति अपने आप मे तब तक मिथ्या है
जब तक कि अन्तर का सत्य खोया रहेगा। बाह्य साक्षरता शिक्षा और
उपाधियाँ तब तक खोखली हैं जब तक कि वे मनुष्य को आध्यात्मिक
चेतना से सम्पन्न नही कर देती। आध्यात्मिक बोध ही समाज के जीवित
और मूल तत्वो का विश्लेषण कर पायेगा। हमे उन्हीं मूल्यों को ग्रहण
करना है जो समाज के आन्तरिक संगठन उसके रूपान्तर और आध्यात्मिक
विकास मे सहायक हो। चेतना के सत्य से विमुक्त बुद्धिवाद मिथ्या भाव
है। उसने कला के क्षेत्र मे अन्तःसत्य से अधिक मूल्य रूप-विधान को
राजनीति मे स्वतन्त्रता से अधिक महत्व बाह्य संगठन को नैतिकता में

भूल सभ्यता संस्कृति तथा अन्धकार में भटकती हुई मानवता के लिए नवीन संजीवन नवीन आशा नवीन प्रकाश तथा नवीन रचना-शक्ति का अपराजेय आह्वान है।

o

12 The Heart of Hindusthan—G A Natesan & Co 1936

13 Eastern Religion and Western Thought—Oxford University Press—1939

14 Introduction to Mahatma Gandhi edited by Prof S Radhakrishnan—George Allen & Unwin Ltd 1939

15 India & China—Hind Kitabs, Bombay 1944

16 Education Politics & War—International Book Service Poona, 1944

17 Is This Peace ?—Hind Kitabs Bombay 1945

18 Religion & Society—George Allen & Unwin Ltd. 1947

19 The Bhagavadgita—George Allen & Unwin Ltd., 1948

20 Great Indians—Hind Kitabs Bombay 1949

21 The Dhammapada—Oxford, The University Press, 1950

22 The Religion of the Spirit and the World's Need and also Reply to Critics—Essays published in the Philosophy of S Radhakrishnan, edited by Paul A. Sch lpp—Tudor Publishing Company New York 19 2

23 The Principal Upanisads—George Allen & Unwin Ltd. 1953

24 The Concept of Man—edited by S. Radhakrishnan & P T Raju—George Allen & Unwin Ltd., 1961

25 The Essentials of Psychology—Oxford, The University Press 1912.